वर्ष : 1 | अंक : 2 (अप्रैल-जून 2026)

साहित्य संस्कृति पत्रिका

(साहित्य, समाज एवं संस्कृति की बहुविषयक बहुभाषी त्रैमासिक ई-पत्रिका)

प्रधान संपादक

डॉ. अनिल कुमार

साहित्य संस्कृति पत्रिका (त्रैमासिक)

साहित्य और संस्कृति का संगम

वर्ष: 01, अंक: 02, अप्रैल-जून 2026 Volume: 1, Issue: 02, Period- April-June **2026**

संस्थापक : डॉ. अनिल कुमार एवं डॉ. रमन कुमार
संरक्षक मंडल : प्रो. के. एन. तिवारी, प्रो. दर्शन पाण्डेय
परामर्श मंडल : प्रो. जय कौशल, प्रो. प्रदीप कुमार, प्रो. हरिन्द्र कुमार शर्मा, प्रो. हितेन्द्र कुमार मिश्र, राजकुमार माठी, डॉ. शकुंतला कालरा
संपादक मंडल
प्रधान संपादक : डॉ. अनिल कुमार / **संपादक-** डॉ. नीतू गुप्ता
सह-संपादक : डॉ. गीता पाण्डेय, डॉ. चेतना शर्मा, डॉ. रमेश चन्द्र नैलवाल/ प्रो. जगदेव कुमार शर्मा

अव्यवसायिक पत्रिका
पत्रिका की सदस्यता नि:शुल्क है।
बैंक खाता विवरण
बैंक का नाम : इंडियन बैंक
शाखा : स्वामी श्रद्धानंद कॉलेज (6455)
खाताधारक : ANIL KUMAR
खाता संख्या : 50254706354
IFSC CODE- IDIB000S806
पत्राचार और वर्तमान पता : मकान न.- 65, मोहम्मद पुर अलीपुर, दिल्ली-110036

विषय विशेषज्ञ समिति (हिंदी) : डॉ. अमिता, डॉ. नीतामणि बरदलै, डॉ. फिल्मेका मारबानियांग, डॉ. तरुण कुमार, डॉ. कृष्ण कुमार साह
विषय विशेषज्ञ समिति (अंग्रेजी) : डॉ. चेतना शर्मा, डॉ. दीपक कुमार साही एवं डॉ. सौनली मौर्य
विषय विशेषज्ञ समिति (संस्कृत) : डॉ. भास्कर उप्रेती, डॉ. रमेश, डॉ. विरमा कुमारी, डॉ. अवधेश कुमार एवं डॉ. संदीप कुमार
विषय विशेषज्ञ समिति (इतिहास) : प्रो. रंजन कुमार, डॉ. अंश कुमार, डॉ. संदीप निरवाल एवं डॉ. रोबिन
विषय विशेषज्ञ समिति (राजनीतिक विज्ञान) : डॉ. दीपक, गंधर्व कौशीय, डॉ. पवन सिंह, डॉ. शिखा शर्मा एवं डॉ. सनोज राणा
विषय विशेषज्ञ समिति (समाजशास्त्र) : डॉ. वंदना कुमारी
विषय विशेषज्ञ समिति (भूगोल) : डॉ. पंकज कुमार
विषय विशेषज्ञ समिति (दर्शनशास्त्र) : डॉ. देशराज सिरसवाल
विषय विशेषज्ञ समिति (ड्राइंग और पेंटिंग) : डॉ. बबीता
तकनीकी सहयोगी सदस्य : कृष, रक्षित
सक्रिय सहयोगी सदस्यों की सूची : कुमारी रीना (संस्कृत), डॉ. सुरेन्द्र, लोकेश कुमार, कंचन, पूजा, सुचित्रा, चित्रा, अंजलि, डॉ. अंशु राज, मनीष कुमार, सौरभ

साहित्य संस्कृति पत्रिका (त्रैमासिक) में प्रकाशन हेतु प्राप्त रचनाओं के चयन और प्रकाशन से संबंधित निर्णय संपादक मंडल द्वारा सामूहिक विचार-विमर्श के आधार पर किए जाते हैं। पत्रिका में प्रकाशित लेखों, कविताओं, समीक्षाओं तथा अन्य रचनाओं में व्यक्त विचार संबंधित लेखकों के व्यक्तिगत विचार हैं, जिनसे संपादक मंडल या प्रकाशक की सहमति होना आवश्यक नहीं है। संपादक मंडल को प्राप्त सामग्री का संपादन करने, भाषा अथवा संरचना में आवश्यक परिवर्तन करने तथा आवश्यकता पड़ने पर उसे संक्षिप्त या परिवर्तित करने का अधिकार सुरक्षित रहेगा। पत्रिका में प्रकाशित किसी भी सामग्री का पुनर्प्रकाशन, अनुवाद या किसी अन्य माध्यम में उपयोग संपादक मंडल की पूर्व लिखित अनुमति के बिना नहीं किया जा सकेगा। पत्रिका से संबंधित किसी भी प्रकार के विवाद अथवा विधिक प्रकरणों का क्षेत्राधिकार केवल दिल्ली न्यायालय के अंतर्गत होगा।

साहित्य संस्कृति पत्रिका (त्रैमासिक)
साहित्य, समाज एवं संस्कृति की बहुविषयक-बहुभाषी अंतरानुशासनिक ई-पत्रिका
प्रकाशक : साहित्य संस्कृति पत्रिका समूह
ईमेल पता : editorsahityasanskritipatrika@gmail.com
वेब लिंक : https://sahityasanskritipatrika.com
संपर्क सूत्र- 9315337171/ 9582691776/ 8178401687

अनुक्रमणिका

पृष्ठ संख्या

संपादकीय

कविता

1. भूल गए वो हमें- **डॉ. कुलदीप कुमार** 01
2. प्रत्युत्तर (अन्य दो कविताएं)- **पुष्करराय जोषी** 02
3. वसुधैव कुटुम्बकम् और जगन्नाथ संस्कृति: एक दार्शनिक काव्यमाला- **डॉ. कृष्ण चन्द्र पण्डा** 03
4. अशोक अंजुम की ग़ज़लें- **अशोक 'अंजुम'** 05

कहानी

1. मायके से लौटती औरतें- **विवेक रंजन मेहता** 07
2. जनरल डिब्बा- **जय कुमार तिवारी** 13

शोध आलेख

1. जुगनी लोकगीत: इतिहास और सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व- **अंजलि** 17
2. साठोत्तरी हिंदी उर्दू ग़ज़ल में अभिव्यक्त सामाजिक बोध- **लोकेश कुमार** 25
3. श्री अरविंद और राष्ट्रीय चेतना- **डॉ. रवि प्रकाश** 32
4. 'उत्तर कबीर नंगा फकीर' में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ- **मनीष कुमार** 37
5. बाल मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में हिंदी सिनेमा- **सौरभ** 45
6. सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ: - **सीताराम गुप्ता** 54
7. 'पिता' कहानी में व्यक्त पीढ़ियों का द्वंद्व- **ज्योति यादव** 61
8. 'कफ़न' का पुनर्मूल्यांकन- **विवेक विस्तार** 65
9. आधुनिक हिंदी कविता में भारतीय ज्ञान-परंपरा की पुनर्व्याख्या- **डॉ. पूनम कुमारी** 70
10. हिन्दी दलित आत्मकथाओं में बाल जीवन की अभिव्यक्ति- **डॉ. तरुण कुमार** 82
11. Beyond Retirement: Employment Among Older Adults in India **- Chitra** 90

संपादकीय

साहित्य, संस्कृति और हमारी सामूहिक चेतना

मानव सभ्यता का विकास विचार, अनुभव और संवेदना की सतत यात्रा का परिणाम है। समय के प्रत्येक परिवर्तन ने समाज के सामने नए प्रश्न रखे हैं, जिनका उत्तर खोजने का कार्य साहित्य और संस्कृति ने अपने-अपने स्तर पर किया है। साहित्य ने जीवन की अनुभूतियों को शब्द दिए, संस्कृति ने उन शब्दों को जीवन-मूल्यों से जोड़ा। इसी संवाद ने समाज की सामूहिक चेतना का निर्माण किया तथा पीढ़ियों के बीच ज्ञान, अनुभव और परंपरा के प्रवाह को निरंतर बनाए रखा। साहित्य संस्कृति पत्रिका का प्रथम अंक इसी विश्वास के साथ आपके समक्ष प्रस्तुत किया गया था कि साहित्य और संस्कृति पर गंभीर, तर्कपूर्ण तथा मूल्यपरक विमर्श आज भी उतना ही आवश्यक है, जितना किसी भी ऐतिहासिक काल में रहा है। पाठकों, लेखकों, शोधार्थियों, समीक्षकों तथा शुभचिंतकों से प्राप्त आत्मीय सहयोग, सार्थक सुझाव और रचनात्मक संवाद ने यह विश्वास दृढ़ किया कि गंभीर साहित्यिक प्रयासों के प्रति समाज की रुचि आज भी जीवित है। यही विश्वास हमें इस दूसरे अंक तक लेकर आया है। यह दूसरा अंक उस वैचारिक पथ की स्वाभाविक निरंतरता है, जिसका उद्देश्य साहित्य, संस्कृति और समाज के बीच सार्थक संवाद को सुदृढ़ करना है। हमारा मानना है कि किसी भी पत्रिका का महत्त्व उसके प्रकाशित लेखों की संख्या से नहीं होता, अपितु उसके द्वारा उत्पन्न विचार-विमर्श, बौद्धिक उत्तरदायित्व और सामाजिक संवेदनशीलता से निर्धारित होता है। इसी दृष्टि से यह प्रयास साहित्य को समाज के व्यापक संदर्भों में देखने, सांस्कृतिक विरासत को समकालीन जीवन से जोड़ने तथा नए विचारों के लिए गंभीर मंच उपलब्ध कराने की दिशा में एक विनम्र पहल है।

आज जब सूचना का प्रवाह अत्यंत तीव्र है और विचारों का आदान-प्रदान क्षणों में संभव हो गया है, तब यह प्रश्न पहले से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है कि हमारी सामूहिक चेतना किन आधारों पर निर्मित हो रही है। यही प्रश्न इस संपादकीय की मूल प्रेरणा है और इसे ही अंक की वैचारिक भूमि समझी जा सकती है। इक्कीसवीं शताब्दी का वर्तमान दौर अभूतपूर्व परिवर्तन का दौर है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी, संचार और कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने मानव जीवन की गति, कार्यशैली तथा ज्ञान के स्वरूप को व्यापक रूप से प्रभावित किया है। विश्व अब भौगोलिक सीमाओं से अधिक डिजिटल संपर्कों के माध्यम से जुड़ता दिखाई देता है। सूचना तक पहुँच पहले की तुलना में कहीं अधिक सरल हुई है, किंतु सूचना की प्रचुरता ने विवेक, संवेदना और आलोचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता को भी पहले से अधिक बढ़ा दिया है। ऐसे समय में यह विचार करना आवश्यक है कि समाज की सामूहिक चेतना का निर्माण किन स्रोतों से हो रहा है और उसकी दिशा क्या है। सामूहिक चेतना किसी समाज की साझा स्मृतियों, अनुभवों, मूल्यों, विश्वासों, संघर्षों तथा सांस्कृतिक परंपराओं का समेकित रूप होती है। यही चेतना किसी राष्ट्र की पहचान, उसकी सामाजिक संरचना तथा भविष्य की दिशा निर्धारित करती है। जब यह चेतना अपनी ऐतिहासिक जड़ों, सांस्कृतिक विरासत और मानवीय मूल्यों से जुड़ी रहती है, तब समाज संतुलित, संवेदनशील और सृजनशील

बनता है। इसके विपरीत, जब उसका आधार क्षणिक प्रवृत्तियों, उपभोग की संस्कृति अथवा सतही सूचनाओं तक सीमित होने लगता है, तब सामाजिक संवाद की गहराई प्रभावित होती है। डिजिटल माध्यमों ने अभिव्यक्ति के नए अवसर उपलब्ध कराए हैं। आज कोई भी व्यक्ति अपने विचार व्यापक समाज तक पहुँचा सकता है। यह लोकतांत्रिक विस्तार स्वागतयोग्य है, किंतु इसके साथ विचारों की प्रामाणिकता, भाषा की गरिमा तथा संवाद की संस्कृति जैसी चुनौतियाँ भी सामने आई हैं। त्वरित प्रतिक्रिया की प्रवृत्ति ने कई बार गंभीर चिंतन के स्थान पर तात्कालिक प्रतिक्रियाओं को अधिक महत्त्व दिया है। परिणामस्वरूप धैर्यपूर्वक पढ़ने, गहराई से समझने तथा विवेकपूर्ण संवाद की परंपरा अनेक स्तरों पर प्रभावित हुई है।

कृत्रिम बुद्धिमत्ता ने ज्ञान-सृजन, शिक्षा, शोध और लेखन के क्षेत्र में नई संभावनाएँ खोली हैं। यह समय की बड़ी उपलब्धि है, किंतु किसी भी तकनीक का वास्तविक मूल्य उसके उपयोग की दिशा से निर्धारित होता है। यदि तकनीकी साधन मानवीय संवेदनशीलता, रचनात्मकता और बौद्धिक ईमानदारी के साथ जुड़े रहें, तो वे ज्ञान-विस्तार के प्रभावी माध्यम बन सकते हैं। दूसरी ओर यदि सुविधा ही अंतिम लक्ष्य बन जाए तो मौलिक चिंतन, अध्ययन की संस्कृति तथा सृजनात्मक श्रम प्रभावित होने की आशंका भी बनी रहती है। इसी संदर्भ में साहित्य और संस्कृति की भूमिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाती है। साहित्य मनुष्य को प्रश्न पूछना सिखाता है, आत्ममंथन के लिए प्रेरित करता है तथा अनुभवों को मानवीय अर्थ प्रदान करता है। संस्कृति समाज को उसकी ऐतिहासिक स्मृति, नैतिक आधार और जीवन-दृष्टि से जोड़ती है। जब साहित्य और संस्कृति सक्रिय रहते हैं, तब समाज परिवर्तन को स्वीकार करते हुए भी अपनी मूल मानवीय संवेदनाओं को सुरक्षित रख पाता है। यही संतुलन किसी भी सभ्यता की वास्तविक शक्ति होता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि परिवर्तन को भय या उत्साह की अतियों में देखकर नहीं, अपितु विवेकपूर्ण दृष्टि से समझा जाए। आधुनिकता और परंपरा को परस्पर विरोधी मानने के स्थान पर उनके बीच संवाद स्थापित किया जाए। ज्ञान के नए स्रोतों का स्वागत हो, साथ ही भारतीय बौद्धिक परंपरा, लोक जीवन, भाषाई विविधता और सांस्कृतिक स्मृतियों का संरक्षण भी समान गंभीरता से किया जाए। यही संतुलित दृष्टि हमारी सामूहिक चेतना को सुदृढ़ बना सकती है और भविष्य के समाज को अधिक मानवीय, न्यायपूर्ण तथा सृजनशील दिशा प्रदान कर सकती है।

साहित्य और संस्कृति किसी भी समाज की आत्मा के दो ऐसे आयाम हैं, जिनके बिना उसकी ऐतिहासिक पहचान, वैचारिक निरंतरता और मानवीय संवेदना की कल्पना नहीं की जा सकती। संस्कृति मनुष्य के जीवन-मूल्यों, आचरण, विश्वास, लोकानुभव, कला, भाषा तथा ज्ञान-परंपरा का समग्र रूप है, जबकि साहित्य उन सभी अनुभवों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति है। दोनों का संबंध इतना गहरा है कि एक की सक्रियता दूसरे को निरंतर ऊर्जा प्रदान करती है। यही कारण है कि किसी समाज को समझने के लिए उसके साहित्य और उसकी संस्कृति का अध्ययन सबसे विश्वसनीय आधार माना जाता है। भारतीय सांस्कृतिक परंपरा की सबसे बड़ी विशेषता उसकी बहुलता, सहिष्णुता और संवादधर्मिता रही है। यहाँ वैदिक वाङ्मय से लेकर उपनिषदों, बौद्ध और जैन चिंतन, भक्ति

आंदोलन, सूफी परंपरा, लोक-साहित्य तथा आधुनिक साहित्य तक विचारों की एक समृद्ध धारा निरंतर प्रवाहित होती रही है। इन विविध स्रोतों ने भारतीय समाज को ऐसी सांस्कृतिक चेतना प्रदान की जिसमें भिन्नताओं के बीच सह-अस्तित्व, विचारों का आदान-प्रदान तथा मानवीय गरिमा को विशेष महत्त्व मिला। यह विरासत आज भी हमारी सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक पहचान का आधार है। हिंदी साहित्य ने इस सांस्कृतिक यात्रा को शब्दों में रूपायित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। आदिकाल की वीरगाथाओं से लेकर भक्तिकाल की लोकमंगल चेतना, रीतिकाल की काव्य-परंपरा, आधुनिक युग के राष्ट्रीय जागरण, प्रगतिशील चिंतन, नई कविता, जनपक्षधर लेखन, स्त्री-विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श तथा समकालीन साहित्य तक प्रत्येक कालखंड ने अपने समय के प्रश्नों को अभिव्यक्ति दी है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य समाज की आत्मचेतना, उसके संघर्ष, उसकी आशाओं तथा उसके आत्ममंथन का सृजनात्मक इतिहास समझा जा सकता है। लोक-संस्कृति इस चेतना की सबसे जीवंत अभिव्यक्ति है। लोकगीत, लोककथाएँ, लोकनाट्य, लोकभाषाएँ, लोकविश्वास, पर्व-उत्सव तथा क्षेत्रीय परंपराएँ समाज की सामूहिक स्मृति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखती हैं। तीव्र सामाजिक परिवर्तन के इस दौर में यदि इन लोकधाराओं की उपेक्षा होती है, तो सांस्कृतिक निरंतरता भी प्रभावित होती है। इसलिए आधुनिकता का अर्थ परंपरा और नवाचार के बीच सार्थक संतुलन स्थापित करना है। जब साहित्य और संस्कृति समाज के साथ सतत संवाद में रहते हैं, तब मानवीय संवेदनाएँ, नैतिक मूल्य और सांस्कृतिक स्मृतियाँ जीवंत बनी रहती हैं। वस्तुतः साहित्य और संस्कृति का संवाद ही समाज की चेतना को जीवित रखता है।

साहित्य की शक्ति इस बात में निहित है कि वह मनुष्य को संवेदनशील बनाता है। वह प्रश्न उठाता है, संवाद को जन्म देता है, अन्याय के प्रति सजग करता है, करुणा का विस्तार करता है और जीवन के विविध अनुभवों को व्यापक मानवीय परिप्रेक्ष्य में देखने की दृष्टि प्रदान करता है। जब समाज में संवाद का स्थान शोर लेने लगे, विचार की जगह तात्कालिक प्रतिक्रिया लेने लगे और अध्ययन की जगह सतही जानकारी लेने लगे, तब साहित्य धैर्य, विवेक और आत्मचिंतन की संस्कृति को पुनर्स्थापित करने का माध्यम बनता है। यही उसकी सबसे बड़ी सामाजिक भूमिका है। ऐसे समय में साहित्यिक पत्रिकाओं का महत्त्व भी बढ़ जाता है। साहित्यिक पत्रिकाएँ नई रचनात्मक प्रतिभाओं को मंच प्रदान करती हैं, गंभीर आलोचना को दिशा देती हैं, शोधपरक चिंतन को प्रोत्साहित करती हैं तथा समकालीन प्रश्नों पर सार्थक बहस का वातावरण निर्मित करती हैं। हिंदी साहित्य का इतिहास इस बात का साक्षी है कि अनेक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक आंदोलनों और वैचारिक परिवर्तनों को पत्रिकाओं ने ही गति प्रदान की। इसलिए साहित्यिक पत्रिका का कार्य बौद्धिक जीवन में सक्रियता प्रदान करना है।

‘**साहित्य संस्कृति पत्रिका**’ इसी विश्वास के साथ अपनी भूमिका निर्धारित करती है कि साहित्य और संस्कृति के प्रश्नों पर गंभीर, संतुलित तथा उत्तरदायी विमर्श आज पहले से अधिक आवश्यक है। इस पत्रिका के माध्यम से हमारा प्रयास ऐसी सामग्री प्रस्तुत करना है, जो पाठक को विचार के नए आयामों से परिचित कराए, शोध की दिशा में प्रेरित करे, भारतीय ज्ञान-परंपरा तथा लोक-सांस्कृतिक विरासत के महत्त्व को रेखांकित करे और

समकालीन साहित्यिक परिदृश्य को व्यापक दृष्टि से समझने का अवसर दे। हमारा विश्वास है कि जब साहित्य, संस्कृति और समाज के बीच संवाद सुदृढ़ होता है, तभी सामूहिक चेतना भी अधिक परिपक्व, अधिक संवेदनशील तथा अधिक उत्तरदायी बनती है। वर्तमान समय की चुनौतियाँ चाहे जितनी जटिल क्यों न हों, साहित्य और संस्कृति का जीवंत संवाद समाज को नई दिशा देने की क्षमता रखता है। यही संवाद अतीत की स्मृतियों को वर्तमान के अनुभवों से जोड़ता है और भविष्य के लिए ऐसी वैचारिक भूमि तैयार करता है, जिस पर मानवीय गरिमा, सामाजिक न्याय, सांस्कृतिक विविधता तथा ज्ञान की स्वतंत्र परंपरा निरंतर विकसित हो सके। यही किसी भी सशक्त साहित्यिक प्रयास का मूल उद्देश्य होना चाहिए और यही हमारी सामूहिक चेतना की स्थायी शक्ति है। साहित्य संस्कृति पत्रिका का यह दूसरा अंक विविध साहित्यिक और सांस्कृतिक विमर्शों को एक साझा मंच पर प्रस्तुत करने का प्रयास है। इस अंक की सामग्री का चयन इस दृष्टि से किया गया है कि पाठकों को समकालीन साहित्य, भारतीय सांस्कृतिक परंपरा, लोकजीवन, भाषा, समाज तथा ज्ञान-विमर्श के विविध आयामों पर गंभीर और संतुलित सामग्री उपलब्ध हो। हमारा प्रयास रहा है कि प्रत्येक रचना अपने विषय की गहराई, वैचारिक स्पष्टता और साहित्यिक गुणवत्ता के आधार पर पाठकों के चिंतन को समृद्ध करे। इस अंक में सम्मिलित कविता, कहानी, शोधपरक लेख, आलोचनात्मक आलेख आदि समय के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार प्रस्तुत करते हैं। इन रचनाओं में परंपरा और आधुनिकता के संबंध, सामाजिक परिवर्तन, सांस्कृतिक निरंतरता, भाषा की भूमिका, मानवीय मूल्यों तथा साहित्य की सामाजिक उपयोगिता जैसे विषय विभिन्न दृष्टियों से उभरकर सामने आते हैं। इस विविधता का उद्देश्य विचारों की बहुलता को सम्मान देना और स्वस्थ बौद्धिक संवाद को प्रोत्साहित करना है। हमारा विश्वास है कि किसी साहित्यिक पत्रिका की सार्थकता विषयों के बीच स्थापित होने वाले वैचारिक संवाद में निहित होती है। यही कारण है कि इस अंक में प्रकाशित सामग्री एक-दूसरे से भिन्न होते हुए भी साहित्य और संस्कृति के व्यापक सरोकारों से जुड़ी हुई है। प्रत्येक लेख और प्रत्येक रचना पाठक को नए प्रश्नों के साथ-साथ नए दृष्टिकोण भी प्रदान करती है। यह अंक उन सभी विद्वानों, शोधार्थियों, रचनाकारों और पाठकों को समर्पित है जो साहित्य को समाज की चेतना, संस्कृति की निरंतरता और मानवीय मूल्यों के संरक्षण का सशक्त माध्यम मानते हैं। हमें विश्वास है कि इस अंक की सामग्री विचार-विमर्श की नई संभावनाओं को जन्म देगी और हिंदी साहित्य के गंभीर अध्ययन तथा सांस्कृतिक विमर्श को नई ऊर्जा प्रदान करेगी।

साहित्य का भविष्य किसी एक लेखक, संस्था या पत्रिका के प्रयासों से निर्धारित नहीं होता है, अपितु वह समाज की साझा बौद्धिक चेतना, सतत संवाद और निरंतर सृजनशीलता से निर्मित होता है। इसी विश्वास के साथ साहित्य संस्कृति पत्रिका अपनी आगामी यात्रा को व्यापक साहित्यिक और सांस्कृतिक सरोकारों से जोड़ते हुए आगे बढ़ने के लिए प्रतिबद्ध है। हमारा उद्देश्य ऐसा सृजनात्मक वातावरण विकसित करना है, जहाँ विचारों का स्वतंत्र आदान-प्रदान हो, शोध की गंभीरता को सम्मान मिले और साहित्य समाज के जटिल प्रश्नों पर सार्थक हस्तक्षेप करता रहे। आने वाले समय में यह पत्रिका भारतीय ज्ञान-परंपरा, हिंदी साहित्य, लोक-संस्कृति, भाषा-

विमर्श, अनुवाद, आलोचना, सांस्कृतिक अध्ययन तथा समकालीन सामाजिक प्रश्नों पर केंद्रित गंभीर सामग्री को निरंतर स्थान देने का प्रयास करेगी। हमारा विश्वास है कि साहित्य का विकास तब अधिक सशक्त होता है, जब परंपरा और नवीनता, अनुभव और नवाचार, अध्ययन और सृजन परस्पर संवाद करते हैं। इसी दृष्टि से अनुभवी विद्वानों के साथ युवा शोधार्थियों और नवोदित रचनाकारों को भी समान सम्मान के साथ मंच उपलब्ध कराने का प्रयास जारी रहेगा। आज आवश्यकता ऐसी बौद्धिक संस्कृति के निर्माण की है, जिसमें मतभिन्नता को संवाद का आधार माना जाए, असहमति को विचार-विस्तार का अवसर समझा जाए और ज्ञान को सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ जोड़ा जाए। साहित्य तभी सार्थक बनता है, जब वह मनुष्य को अधिक संवेदनशील, अधिक विवेकशील और अधिक मानवीय बनाता है। यही दृष्टि हमारी संपादकीय यात्रा की प्रेरणा है। हम मानते हैं कि साहित्यिक पत्रिकाएँ भविष्य की सांस्कृतिक स्मृतियों का निर्माण करती हैं। आज लिखा गया प्रत्येक गंभीर विचार आने वाले समय के बौद्धिक इतिहास का हिस्सा बन सकता है। इस उत्तरदायित्व को ध्यान में रखते हुए साहित्य संस्कृति पत्रिका निष्पक्षता, गुणवत्ता, मौलिकता और वैचारिक गरिमा को अपनी संपादकीय नीति का आधार बनाए रखेगी। हमारा प्रयास रहेगा कि यह पत्रिका शोध, सृजन और आलोचना के बीच जीवंत संवाद का विश्वसनीय मंच बने तथा हिंदी साहित्य और भारतीय संस्कृति के व्यापक परिदृश्य में अपनी सार्थक उपस्थिति निरंतर सुदृढ़ करती रहे। इस यात्रा की वास्तविक शक्ति हमारे पाठक, लेखक, शोधार्थी, समीक्षक तथा सभी सहयोगी सदस्य हैं। उनके विश्वास, सुझाव और सक्रिय सहभागिता से यह प्रयास निरंतर समृद्ध होगा। हमें विश्वास है कि साझा बौद्धिक उत्तरदायित्व की यह भावना साहित्य, संस्कृति और समाज के मध्य संवाद को नई ऊँचाइयों तक पहुँचाएगी तथा आने वाली पीढ़ियों के लिए एक समृद्ध वैचारिक विरासत छोड़ने में अपना योगदान दे सकेगी। साहित्य और संस्कृति किसी भी सभ्यता की जीवंत पहचान हैं। ये समाज को उसकी ऐतिहासिक स्मृतियों से जोड़ते हैं, वर्तमान की जटिलताओं को समझने की दृष्टि देते हैं तथा भविष्य के लिए मानवीय मूल्यों पर आधारित मार्ग प्रशस्त करते हैं। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है, किंतु परिवर्तन के मध्य अपनी सांस्कृतिक चेतना, बौद्धिक परंपरा और मानवीय संवेदनाओं को सुरक्षित रखना प्रत्येक पीढ़ी का दायित्व है। यही दायित्व साहित्य को कालजयी बनाता है और संस्कृति को सतत प्रवाहमान रखता है। अतः हम उन सभी लेखकों, शोधार्थियों, समीक्षकों, पाठकों तथा सहयोगियों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करते हैं, जिनके विश्वास और सहयोग ने इस यात्रा को निरंतर गति प्रदान की है। आपकी सहभागिता ही इस पत्रिका की वास्तविक शक्ति है। हमें विश्वास है कि यह साझा प्रयास आने वाले समय में हिंदी साहित्य और भारतीय सांस्कृतिक विमर्श को नई ऊर्जा, नई दिशा तथा नई दृष्टि प्रदान करेगा। आइए शब्दों को संवेदना से, विचारों को विवेक से और संस्कृति को जीवन से जोड़ने की इस सतत यात्रा में हम सभी सहभागी बनें। यही सामूहिक चेतना हमारी सबसे बड़ी सांस्कृतिक शक्ति है, यही साहित्य की स्थायी प्रासंगिकता है और यही साहित्य संस्कृति पत्रिका की संपादकीय यात्रा का मूल संकल्प है।

कविता

डॉ. कुलदीप कुमार
सहायक प्राध्यापक (हिंदी)
राजकीय महाविद्यालय रिवालसर
जिला मंडी, हिमाचल प्रदेश।
ईमेल पता : Kuldeepkuku99@gmail.com
संपर्क सूत्र : 8219095475

भूल गए वो हमें

हे प्रभु-
माफ करना हमारे बच्चों को
दोनों बड़े भुलक्कड़ हैं
दो-दो मकान बनाकर
हमें घर ले जाना भूल गए हैं।

घर में पूजा घर, मेहमान का कमरा,
नौकर का कमरा, भोजन का कमरा
कुत्ते का कमरा वगैरह-वगैरह सब है
हमारे लिए कमरा बनाना भूल गए हैं।

दूर-दूर के अजनबियों से
गहरे रिश्ते हैं लेकिन
जिन्होंने उन्हें जन्म दिया,
पाला-पोसा लिखाया-पढ़ाया
उनसे बतियाना भूल गए हैं।
सिगरेट का धुआं, बच्चों का पिज्जा,
बीबी का गजरा आदि सब याद है
लेकिन बाप का चश्मा, माँ की दवाई
याद दिलाकर भी भूल गए हैं।

उन्हें सब याद है कि उन्होंने
हमारे लिए क्या-क्या किया
लेकिन हमने उनके लिए क्या
कुछ नहीं किया वे भूल गए हैं।

लगता है नई पीढ़ी के प्यार में
वो अपनी पुरानी पीढ़ी भूल गए हैं
खुदा बख्शे उनको-
उन्हें उनके बच्चे भूल न जाए
जैसे भूल गए हैं वो हमें

पुष्करराय जोषी
479, गुजरात हाउसिंग बोर्ड,
कणकोट पाटिया, कालावड रोड,
राजकोट- 360005
संपर्क सूत्र : 9925165164

प्रत्युत्तर

मेरी आंखों के खंडहर में
सपनों के पंछी
क्यों रच रहे हैं घोंसला?
यह बात समझने में
बीत गई पूरी जिंदगी,
आखिर
AI को पूछा,
क्या मिला प्रत्युत्तर?
"मैं भी ढूंढ रहा हूं उत्तर।"

केवल काल

हो गया है रक्तिम आसमान,
आंधी का कभी होता है भान?
क्यों हो रही है इतनी उथल-पुथल?
क्यों हम खुशी को रहे हैं कुचल?
क्या कुछ नया होने वाला है?
क्यों इतना भय और
चारों ओर है घबराहट?
आ रही है
नये युग की आहट?
हो रहा है विसर्जन
या भावि का कोई नवसृजन?
कौन कहेगा?

केवल काल।

आश्वस्त

अब आकाश में
नहीं दीखते पंछी,
दीखती है ज्वाला उगलती मिसाइल,
नयनरम्य बादलों को
निंगल गया है काला धुआं,
मेघ सी गर्जती हैं तोपें,
अब मानव ने होड़ लगाई है
दानव बनने की,
यह कालचक्र
कब तक घूमता रहेगा
इसका अंदाजा लगाना कठिन है,
फिर भी घबराते दिल
आश्वस्त हैं संवेदना से।

डॉ. कृष्ण चन्द्र पण्डा
संस्कृत शिक्षक, ओड़िशा-आदर्श- विद्यालय
पिचुकुलि, बोलगड़, खोर्द्धा, ओड़िशा
ईमेल- drkcpanda1988@gmail.com
संपर्क सूत्र- 08895007456

वसुधैव कुटुम्बकम् और जगन्नाथ संस्कृति: एक दार्शनिक काव्यमाला

जगन्नाथ की महिमा ही, करे विश्व का कल्याण। मिटे द्वेष संसार का, गूंजे शांति विहान।। १।।
जगत-नाथ वो रूप है, जिसमें जग का वास। मिटे भेद सब जाति का, फैले सुख-प्रकाश।। २।।
वसुधैव कुटुम्बकम् का, देते जो संदेश। उन चरणों में शीश धर, तज दे मन का क्लेश।। ३।।
अहिंसा और करुणा भरी, प्रभु की सुंदर आँख। देखें समता भाव से, पंख पसारे पांख।। ४ ।।
शस्त्र बिना जो शांत करे, जग के सब उत्पात। शरण पड़े जो नाथ की, सुघर जात सब बात।। ५।।
कलि का तमस मिटाने को, दारु रूप अवतार। शांति-मंत्र फूंके सतत, महाप्रभु करतार।। ६।।
युद्ध-विमुख जग को मिले, जगन्नाथ से छांव। प्रेम-सेतु निर्मित करे, प्रभु का पावन गाँव।।७।।
जाति-पांति के बंधना, तोड़े जग का नाथ। राजा-रंक कतार में, पकड़े एक दूजे हाथ।।८।।
शांति दूत बनकर खड़ा, नीलगिरि का भूप। सब संप्रदाय विलीन हैं, देख अनूपम रूप।। ९।।
वैश्विक संकट दूर हो, सुमिरन करे जो कोय। जगन्नाथ की कृपा से, अमन जहान में होय।। १०।।
आदि शबर की रीति से, उपजा सुंदर रूप। नीलमाधव ही बने, नीलगिरि के भूप।। ११ ।।
दइतापति की सेवा में, जाति-भेद मिट जाए। शबर वंश की साख को, खुद भगवान बचाए।। १२।।
बौद्ध धर्म की मिल गई, करुणा और अनुकम्पा। त्रिमूर्ति त्रिरत्न बन, मिटाए आपा-धम्पा।।१३।।
जैन धरम का मिल गया, संयम और आचार। मंदिर की हर रीति में, दिखे अहिंसा सार।। १४।।
वैदिक मंत्र और रीति का, ऐसा हुआ मिलाप। आदि-सनातन एक भये, मिटे सकल संताप।। १५।।
रामानुज-चैतन्य ने, दीन्ही अनन्य भक्ति। जगन्नाथ की शरण में, मिली प्रेम की शक्ति।। १६।।
गीत गोविंद की तान पर, रीझ रहे जगन्नाथ। भक्त-भगवान के बीच का, मिटा भेद सब साथ।। १७।।
बिना हाथ सब काज करें, बिना पैर चल जाएं। बिन आंखों के विश्व का, सारा दर्द मिटाएं।। १८।।
सब मत आकर मिल गए, पुरी धाम के माहीं। सागर में नदियाँ मिलें, तैसे भेद कछु नाहीं।। १९।।
विविधता में एकता, इस संस्कृति का मूल। जगन्नाथ के द्वार पर, सब मानव सम फूल।। २०।।
महाप्रसाद की महिमा, बरन सके न कोय। कुत्ता-ब्राह्मण एक संग, छिन में पावन होय।। २१।।
जात-पात पूछै नहीं, आनंद बाजार की रीत। झूठा खाएं एक संग, जागे मन में प्रीत।। २२।।

अन्न नहीं यह ब्रह्म है, जगन्नाथ का दान। भूख मिटे संसार की, जागे आत्म-ज्ञान।। २३।।
लक्ष्मी माँ की रसोई, रांधे सब संसार। तभी मिटेगा विश्व से, भूख का हाहाकार।। २४।।
अतिथि देवो भव इहां, चरितार्थ नित होय। महाप्रसाद को पाइकै, दुखी रहे न कोय।। २५।।
वैश्विक समता का छिपा, इस भोजन में सार। विश्व-शांति का मार्ग है, आनंद का बाजार।। २६।।
रंग-रूप का भेद सब, फीका पड़ जाए। जब महाप्रसाद की, एक कौरी मुख खाए।। २७।।
सबका पोषण एक है, सबका एक विधान। जगन्नाथ का भात ही, समता का पैगाम।। २८।।
अभिमान गलता जहाँ, वो है आनंद धाम। छुआछूत का अंत करे, प्रभु का सुंदर नाम।। २९।।
कण-कण में है चेतना, कण-कण में जगदीश। महाप्रसाद को शीश धर, नवा रहे सब ईश।। ३०।।
बड़दांड पर आ गए, रथ पर बैठ कृपाल। पतित-पावन रूप देख, कटे क्लेश तत्काल।। ३१।।
ऊंच-नीच का भेद तज, खींचें सब जन डोरी। विश्व-बंधुत्व की राह पर, चले जगत की टोली।।३२।।
चेरा पंहरा रीति से, राजा बनेउ गँवार। सोन-झाड़ू हाथ ले, बुहारे प्रभु का द्वार।। ३३।।
राजा सेवक बन गया, टूटा सब अभिमान। जगन्नाथ के सामने, हर मानव एक समान।। ३४।।
नवकलेवर चक्र से, मिलता यह उपदेश। काया नश्वर आत्मा, अजर-अमर हमेश।। ३५।।
दारु फिर नूतन होवे, मिटे पुराना रूप। परिवर्तन स्वीकार करे, यह संसार अनूप।। ३६।।
अणासर में मौन रह, सहते प्रभु बीमारी। सुख-दुःख सम होकर सहो, सीखे दुनिया सारी।। ३७
दुर्बल की सेवा करो, मन में लाओ पीर। रोग-शोक की रीति से, यही सिखाते बीर।। ३८।।
स्नान-चंदन यात्रा, देवे परम अनन्द। सात्विक उत्सव से मिटे, मन का सारा द्वन्द्व।। ३९।।
मंदिर रसोइघर और बड़दांड, शांति के हैं आधार। सहकारिता की सीख देते, ये पावन दरबार।। ४०।।
आधुनिक इस युग में, बढ़ा द्वेष का रोग। जगन्नाथ की चेतना, देवे सबको योग।। ४१।।
प्रकृति संग सामंजस्य का, दारु देव संदेश। वृक्ष रूप भगवान हैं, तजो पर्यावरण क्लेश।।४२।।
धार्मिक कट्टरता मिटे, आए सुख का दौर। जगन्नाथ की छांव सा, जग में नहीं कोउ ठौर।।४३।।
सांस्कृतिक कूटनीति का, रथयात्रा आधार। सात समंदर पार भी, गूंजे जय-जयकार।।४४।।
लंदन हो या टोक्यो, अमेरिका की भूमि। जगन्नाथ की डोरी को, रहे विदेशी चूमी।।४५।।
व्यक्ति सुधारे आचरण, तो समाज सुधर जाए। जगन्नाथ की चेतना, मन का मैल बहाए।।४६।।
शांति नहीं कोई नीति है, शांति आत्मा का रूप। यही सिखाता मौन रह, नीलगिरि का भूप।।४७।।
बसुधा के कल्याण को, दारु रूप धर धीर। सबके संकट हर रहे, जगत-शरण-बलबीर।।४८।।
प्राचीन यह ज्ञान ही, आधुनिक आधार। बिना प्रेम संसार में, सजे न सुख का द्वार।।४९।।
पंचाशत् दोहों में कहा, परम तत्त्व का सार। जगन्नाथ की करुणा ही, विश्व-शांति का द्वार।। ५०।।

अशोक 'अंजुम'
संपादक : अभिनव प्रयास (त्रैमासिक)
स्ट्रीट-2, चन्द्र विहार कॉलोनी (नगला डालचंद)
क़्वारसी बाईपास, अलीगढ़- 202002 (उ.प्र.)
संपर्क सूत्र : 09258779744
ईमेल पता : ashokanjumaligarh@gmail.com

अशोक अंजुम की ग़ज़लें

1

जब देखो तब आनाकानी, हाय रब्बा!
बरसे कंबल, भीगे पानी, हाय रब्बा!

इक दूजे की आस्तीन में रहते हैं
फिर भी दिल है हिन्दुस्तानी, हाय रब्बा!

रातों को गिद्धों के सपने आते हैं
जबसे बिटिया हुई सयानी, हाय रब्बा!

लोकतंत्र में लोक किनारे लगा दिया
तंत्र सदा करता मनमानी, हाय रब्बा!

फिर कचरे में कहीं कोई नवजात मिला
ख़त्म हुई फिर प्रेम-कहानी, हाय रब्बा!

हर इक घर में ईद मने, खुशियां आएं
बकरों ने दे दी कुर्बानी, हाय रब्बा!

बाबर, खिलजी बारूदों के खेल रचें
मारे जायें चचा रमजानी, हाय रब्बा!

2

अब छोड़ भी ये रूठना, चल बात करेंगे!
है बात में हर बात का हल, बात करेंगे!

मैं सारी खिड़कियों को खोलता हूं जह्न की
तू भी दरो-दीवार बदल, बात करेंगे

रिश्तों का बहुत शोर यहाँ शोर है बहुत
इस शोर से चल बच के निकल, बात करेंगे

हमले हैं हर इक ओर से, ज़ारी है जंग-सी
टूटे न ये उल्फ़त का महल, बात करेंगे

मेरे औ' तेरे बीच में जो राब्ता है, सुन
पड़ने लगे न उसमें खलल, बात करेंगे

3

फूल खुशबू बहार बस बस बस
अब तेरा इंतज़ार बस बस बस

कुछ तो मुझ में बचा रहे मेरा
छोड़ दे अब तो यार बस बस बस

अब ये नज़रों के तीर रहने दे
हम न होंगे शिकार बस बस बस

जिंदगी तुझसे क्या करें शिकवा
तेरे नखरे हज़ार बस बस बस

वो ही तनहाइयां वो बेचैनी
इश्क़ तेरा ख़ुमार बस बस बस

तेरे वादों से आ गए आज़िज
क्यों लुटे बार-बार बस बस बस

4

जैसा सोचा है क्या वैसा कभी न आएगा...
रात में दिन का वो सपना कभी न आएगा... ?

साध के चुप्पियां बैठा है, अरे बोल भी दे
आज निकला तो ये मौक़ा कभी न आएगा

प्यास के वास्ते चलना पड़ेगा तुझको ही
पास चल के तेरे दरिया कभी न आएगा

तेरे धोखे ने मुझे इस कदर किया हैरां
उम्र-भर अब तो भरोसा कभी न आएगा

दूर बजती हुई शहनाइयां बताती हैं
अब तेरी छत पर वो चंदा कभी न आएगा

आम रस्ते का मुसाफ़िर हूं मुझे है मालूम
मेरे कदमों में गलीचा कभी न आएगा

ये जो पल है इसे कर ले मुफ़ीद ऐ ‘अंजुम’
ये जो पल है ये दोबारा कभी न आएगा

कहानी

विवेक रंजन मेहता
71, प्रगति नगर नीमच (म.प्र.) 458441
ईमेल पता : vivekranjanmehta@gmail.com
संपर्क सूत्र: 9427267470

मायके से लौटती औरतें

तनाव, थकान के कारण सरोज सोचते-सोचते आँखें बंद कर कब कुर्सी पर ही सो गई थी, मालूम ही नहीं पड़ा। शोर से उसकी नींद खुल गई। चौंक कर, डर कर उसने पलंग की ओर देखा। ड्रीप चालू थी। मशीन- बीपी, प्लस, ऑक्सीजन सब बराबर दिखा रही थी। पिताजी सो रहे थे। हाँ, चेहरे पर हल्का सा दर्द जरुर झलक रहा था। वह आज सवेरे ही लंबे सफर के बाद यहाँ पहुँची। उसके घर से यहाँ के लिए कोई सीधी फ्लाइट भी तो नहीं है। रेल या बस से यात्रा करो, एक बार बीच में उन्हें बदलना ही पड़ता है। लम्बी यात्रा में थकान तो आ ही जाती है। इस बार 20-25 दिन में पापा फिर से अस्पताल में भर्ती करवाने की स्थिति में आ गए। ऊपर से इस बार की परेशानी, बीमारी के अलावा अलग ही स्तर की भी थी। वह बहुत धार्मिक चाहें न रही हो पर घर के सब लोग तो धार्मिक, संस्कारी है। स्थानक जाना। वहाँ साधु-संत हो तो उनके लिए सवेरे उठकर धोवन पानी तैयार रखना। गोचरी के लिए आए तो असूझते वातावरण के कारण वे वापस ना चले जाए इस बात का ध्यान रखना। समय पर खाना तैयार हो जाए ताकि रात ना पड़ें और तपती धूप में नंगे पैर आए संत बिना गोचरी के घर से लौट न जाए। पापा समाज और धर्म के कामों में आगेचारी रहें। वही न जाने कैसे अधर्मी निकल गई! रात को खाने वाली। बिना प्याज-लहसुन के सब्जी का उसे स्वाद ही नहीं आता। ऐसा नहीं की वहीं ऐसी है। भाई और उनके बच्चे भी यही सब करते और खाते हैं। हाँ, यह बात और है कि चातुर्मास और प्रर्युषण के दौरान वे नियमित व्याख्यान में जाते। प्रतिक्रमण करते। हरी सब्जी, जमीकंद खाना बंद कर देते हैं। संभव हुआ तो कभी-कभार उपवास भी रख लेते। बेला, तेला या अट्ठाई तक कर लेते। उससे तो एकाशना भी मुश्किल से होता। इन बातों को सोचते हुए ही उसे नींद आ गई थी।

शोर और कमरे में हो रही हलचल के चलते जब नींद खुल गई तो पहले उसने पापा और फिर मशीन की ओर देखा। जिला स्तर का शहर और स्वास्थ्य सुविधा के नाम पर स्थिति शून्य सी। शहर के लोग शायद खर्च करने की स्थिति में अभी आयें नहीं। कहने को तो यह आईसीयू है मगर इसे सेमी स्पेशल जनरलवार्ड समझा जा सकता हैं। मशीनें, आपातकालीन दवाएं, ऑक्सीजन सप्लाई के लिए दीवाल में पाइप और पेशेंट के लिए तीन पलंग। बीच में पर्दे लगाकर प्राइवेसी मेंटेन करने की असफल कोशिश। वैसे जिसकी इच्छा हो वह मुँह उठायें कमरे में चला आता है।

आवाजें पास के पलंग से आ रही थी। पर्दा हटा हुआ था। सरोज ने देखा परेशान सी पलंग पर एक अम्मा सोई हुई थी। उनके मुँह पर ऑक्सीजन का मास्क। हाथ में ड्रिप और शरीर पर कई वायर लगे हुए। बेचैनी या परेशानी के कारण वह मुँह पर लगे मास्क को निकालने का बार-बार प्रयास कर रही थी। उसकी हम-उम्र की एक महिला और 20-22 साल का लड़का अम्मा को ऐसा करने से रोक रहे थे। उसने उनकी परेशानी को देखा तो लड़के से कहा- "स्टाफ को बुला लो।"

"बुलाया था। वे लोग यह सब लगाकर चले गए। उन्होंने ही कहा कि ध्यान रखना नलियाँ हटाए नहीं।"- उसकी हम-उम्र महिला ने जवाब दिया।

रहन-सहन से वह गाँव की लग रही थी। सरोज अपनी कुर्सी से उठी। उन बुड्ढी अम्मा के बिस्तर के पास जाकर बोली- "अम्मा जल्दी ठीक होना है ना तो फिर ऐसे नहीं करते।"

"कौन? दाग्दर साहब?"- अम्मा ने सवाल किया।

वह कुछ बोलती इसके पहले ही अम्मा के साथ आई महिला ने अम्मा के सिर पर हाथ घुमाते हुए कहा- "हां माँ, डॉक्टर साहिबा आई हैं। इनकी बात सुनो और मानों।"

"ऐसा नहीं करते अम्माजी। जल्दी ठीक होना है ना तो फिर इलाज होने दो।"- उसने समझने का प्रयास किया।

उसी पल से वह डॉक्टर बन गई अम्मा के लिए। चंद मिनटों में अम्मा सो गई। निश्चिन्त होने के लिए अश्वस्ती ही चाहती थी। पर्दा उनके चारों ओर खींचकर एक झिर्री रखकर ताकि उन्हें देख सकें, वह महिला अपने लड़के से बोली- "मुकेश्या, तू बाहर जाकर सो जा। कल भी भाग-दौड़ करना पड़ेगी। जरूरत पड़ेगी तो मैं उठा दूंगी।", लड़का बिना बोले बाहर चला गया।

लौटते समय सरोज की नजर तीसरे पलंग की ओर चली गई। वहाँ महिला सोई हुई थी। नीचे फर्श पर दरी बिछाए एक लड़की सो रही थी। सरोज वापस पापा के पलंग के पास आ गई। पर्दा हटा कर पापा को देखा। ड्रीप पूरी होने को आई थी। उसने इंतजार किया। दवा समाप्त होने पर उसने दवा का फ्लो बंद कर नर्सिंग स्टाफ को बुलाना उचित समझा।

गलियारा में यहाँ-वहाँ आड़े-तिरछे लोग सो रहे थे। स्पेशल रूम के दरवाजे बंद थे। जनरल वार्ड में भी शांति थी। भाई एक बेंच पर सोया था। सिमटा, सिकुड़ा सा। काश चद्दर साथ होती तो उसे ओढ़ा देती, उसने सोचा। रिसेप्शन टेबल पर नर्सिंग स्टाफ खर्राटे ले रहा था। मरीज तो आते हैं, जाते हैं- कुछ घर, तो कुछ ऊपर। उनके लिए तो रोज का

काम है। खुद को जिंदा रहने के लिए नींद भी जरूरी होती है। सरोज ने टेबल पर ठक-ठक कर आवाज़ लगाई तो वह उठा। सरोज ने स्थिति बताई। वह साथ चल दिया। बोतल हटाकर वह वापस लौट गया। सरोज ने कमरे में निगाहें घुमाई। पापा सो रहे थे। अम्मा के खर्राटे गूंज रहें थे। अम्मा के साथ आई महिला भी बिना कुछ बिछाए जमीन पर सो गई थी।

सरोज अपनी कुर्सी पर बैठ गई। पानी की बोतल उठा कर दो घूंट पानी पिया। पापा की ओर देखा। कितना प्यार करते हैं उससे। छोटी थी तो साइकिल पर बिठाकर बाजार ले जाते। खिलौने दिलाते। एक बार पीछे स्टेंड पर बैठें मस्ती करते बीच बाजार में साइकिल के पहिए में उसका पाँव आ गया था। एडी की चमड़ी छिल गई थी। माँस बाहर झाँकने लगा तो कितने परेशान हो गए थे पापा! कितने दिनों तक ड्रेसिंग के लिए उसे उठाकर ले जाते थे। वही पापा अब बार-बार, जल्दी बीमार हो रहे। डॉक्टर उम्र का असर बताते हैं। अभी थोड़े दिन पहले ही उसने पापा का हाल जानने सवेरे 10 बजे के आसपास फोन किया था। रिंग जाती रही किसी ने नहीं उठाया। चिंता के मारे उसने थोड़ी देर बाद फिर से कॉल लगाई। इस बार भाभी ने उठाया। उसने पूछा- ‘‘क्या बात है कोई फोन क्यों नहीं उठा रहा ?’’

आप भी कैसी अज्ञानी हो दीदी! जानते नहीं यह मारासा’ब की गोचरी का समय है।’’, सामने से उत्तर मिला। उसे बुरा लगा था। पापा की तबीयत के बारे में जानकारी लेकर उसने फोन रख दिया। असूझते का बहुत ध्यान रखना पड़ता है। फोन हाथ में हो, फर्श गिला हो, फ्रिज में से सामान निकाल रहे हो या आप यह कह दो की खाना उनके लिए भी बनाया है तो संत या सतियां बिना गोचरी लिए लौट जाते हैं-वह जानती थी। पर उस समय वे वहाँ गोचरी के लिए आये होंगे उसे कैसे मालूम होता? वह तो सरोज है,महाभारत की संजय थोड़ी है। गुस्से में उसने तय किया था भाड़ में जाए सब, अब फोन नहीं करूंगी। पापा के स्वास्थ्य की चिंता रहती इसलिए जानकारी पाने के लिए अपने संकल्प को भूलकर फिर फोन लगा देती। इस बार भाई का फोन आया- ‘‘पापा को सांस लेने में तकलीफ हो रही है। कफ छाती में जम गया। उसकी आवाज़ें भी आती है। तू आ जा। मुझसे नहीं संभल रहा।’’

छोटा भाई। बाप-बेटों के रिश्ते आज की पीढ़ी की तरह दोस्ताना और खुलें नहीं रहें। आदर, सम्मान के चलते लगाव होते हुए भी आपस में बात कम ही होती। और बात नहीं होगी तो दूरियाँ तो रहेगी ही। पापा अक्सर माँ या उसके सामने भाई को कोसते रहते- ‘‘जाने क्या करता रहता है नालायक, बताता ही नहीं। आने-जाने का भी कोई ठौर-ठिकाना नहीं। क्या कमाएंगा क्या खाएगा भगवान जाने!’’ और जब कभी भाई रात दस बजे तक घर नहीं आता तो चिंता करते हुए माँ से कहते- ‘‘फोन तो लगा। पूछ- कब तक आयेगा?’’

भाई का फोन आते ही वह निकल पड़ी थी। घर पहुँची तो परिचितों, रिश्तेदारों की भीड़ लगी थी। आँख बंद किये बिस्तर पर सो रहें पापा से लिपट गई वह। वे निस्तेज, बैचेन और कमजोर दिखाई दे रहे थे। हड्डियों का ढाँचा भर। भीड़ में से कोई बोला- "अब तो सरोज भी आ गई। 'संथारा' के पच्चकाण कराने मारासा'ब को बुला लें?"

"हाँ, परभव भी सुधर जाएगा। जन्म-मरण के चक्कर से मुक्ति मिल जाएगी।"- पापा के चचेरे भाई ने कहा। वह अचम्भित रह गई। तो इसीलिए ही भाई फोन पर बोल रहा था- मुझसे नहीं संभल रहा। एक मरते हुए आदमी से, जो होश में भी नहीं उससे ऐसे छुटकारा पाना चाहते हैं लोग। अचानक न जाने कहाँ से उसमें हिम्मत आ गई। उसने कहा- "मुझे संथारे से समस्या नहीं है। पापा अपने होश हवास में खुद पचख ले तो। और होश-ओ- हवास में लाने के लिए तो इन्हें फिलहाल अस्पताल ले जाना पड़ेगा। अभी। भाई, उसकी व्यवस्था करो।"

उसने भाई की ओर देखा। भाई ने राहत की सांस ली और चला गया। अन्य लोग भी कमरे से बाहर निकल गए। कई लोग उसकी बात से खुश नहीं थे। बाहर के कमरे में गुनगुनाहट हो रही थी। उसने ध्यान नहीं दिया। वह चलने को हुई कि उसे हाथों में पकड़ महसूस हुई। पापा ने इस दौरान न जाने कब उसकी हथेली अपने हाथ में ले ली थी। जितना जोर लगाकर वे पकड़ सकते थे उन्होंने पकड़ा हुआ था। वह खुश हो गई। पापा ने उसकी बात पर मोहर लगा दी हो जैसे। अपने दूसरे हाथ से उनके ललाट पर प्यार भरा हाथ फेरा। फिर उसने उनकी हथेली पर हाथ से थपकी दी। अस्पताल पहुँचने की जल्दी थी। उसने अपनी उंगलियों से उनके हाथ की पकड़ को ढीला किया। पापा के अंगूठे पर स्टाम्प पेड वाली नीली शाही की धुंधली सी झलक दिखलाई दी। यानि वसीयत का काम भी हो चुका था। धन की उसे कोई लालसा नहीं थी। मरने की होने वाली पूर्व तैयारियों पर वह मन ही मन हँस दी। इन यादों के बीच फिर न जाने कब नींद ने उसे अपने आगोश में ले लिया।

सवेरे उसकी नींद खुली तो कमरे में हलचल चालू हो गई थी। अम्मा को कुछ परेशानी हो गई थी। डॉक्टर,स्टाफ सब भाग-दौड़ में लगे हुए थे। भाई के बच्चे और माँ अस्पताल पहुँच गए थे। उसे भी फ्रेश होना था। वह भाई के साथ घर चली गई।

दिन में वह अस्पताल आई। देखा पापा अब ठीक से सांस ले पा रहे थे। मशीन से कफ खींचने के बाद अब आराम था। ड्रिप चढ़ी हुई थी। उसने पापा को हँसाने की कोशिश की। बाजू के पलंग पर अम्मा भी सो रही थी। शायद उन्हें भी अब आराम था। उनके पास पर वाले पलंग पर दुबली-पतली भावहीन आँखें और सिलवट भरे चेहरे के साथ महिला लेटीं थी। कल जो लड़की फर्श पर सोई हुई थी अब पलंग पर बैठी उन्हें कुछ खिला रही थी। उसे देखकर मुस्कुरा कर बोली- "नमस्ते, डॉक्टर दीदी।"

"अरे, मैं कहाँ डॉक्टर हूं।"- उसने हँसकर कहा।

"मैंने देखा था रात को। चलो इसी विश्वास के कारण अम्मा चुपचाप सो तो गई।", उसने बीच वाले पलंग की ओर देखते हुए कहा। फिर तो बातों का सिलसिला चल पड़ा। उसका नाम रश्मि था। पलंग पर लेटी औरत विधवा थी। शिक्षिका की नौकरी करने के बाद रिटायर्ड हो चुकी थी। बच्चे नहीं थे इसलिए रश्मि को गोद ले लिया था। अब उम्र के साथ अल्जाइमर, डिमेंशिया से पीड़ित थी। ऊपर से बुखार आने लगा जो उतारने का नाम ही नहीं ले रहा था। डॉक्टर का कहना था कि इंफेक्शन हो गया। रश्मि की लव-मैरिज दो महीने पहले ही हुई थी। पति की आईटी कंपनी में 'ले-आफ' का खतरा मंडरा रहा था। उसे अकेली ही आना पड़ा।

"माँजी को तो याद नहीं रहता फिर घर के काम और उनकी देखभाल कौन करता है?", सरोज के मन में सवाल उठा तो उसने पूछ लिया।

"एक महिला है जिसे मैं चाची कहती हूँ। वे पहले घरों में काम करती थी। उनका भी कोई नहीं है। वे ही माँ के साथ रहती है। देखभाल करती है। डॉक्टर ने कहा माँ अब ठीक हो रही है। आजकल में छुट्टी मिल जाएगी। सुनकर चाची भगवान को प्रसाद चढ़ाने गई है। उनका सहारा माँ ही तो है।", रश्मि उत्तर देते-देते दरवाजे की ओर देखती हुई बोली- "आओ, मंगली जीजी। खाना हो गया?"

"हाँ, मुकेश ढाबे से पूरी-सब्जी ले आया था। हम दोनों माँ-बेटों ने खा लिया।", उस औरत ने उत्तर दिया जो अम्मा के साथ आई थी। जिसने सरोज को डॉक्टर बना दिया था।

तीन औरतें मिल जाए तो फिर तो बातें ही कहाँ खत्म होनी थी। तीनों मरीजों का स्वास्थ्य सुधार पर था। ज्यादा परेशानी भी नहीं थी। पापा भी अब उसे देखकर हंस बोल लेते थे। अम्मा भी आशिर्वाद से नहला देती। जब भी समय मिलता वे एक-दूसरे से सुख-दु:ख सांझा कर लेती। बातों ही बातों में सरोज ने मंगली से पूछा- "क्या तुम अम्मा की इकलौती हो?"

"नहीं, एक भाई और है। यहीं इसी शहर में रहते हैं। कल शाम को हाल-चाल लेने आए थे।"

"तो फिर देखभाल तो तुम अकेली कर रही हो, खाना भी तुम लोगों का ढाबे से आता हैं?"

"क्या फायदा कीचड़ में पत्थर फेंकने से, अपने ही कपड़े गंदे होंगे।"

बातों बातों में मंगली ने बताया कि अम्मा पास के गाँव में रहती है। खेती-बाड़ी है उनकी। भाई पीडब्ल्यूडी में इंजीनियर है। यही शहर में मकान बना लिया। कभी-कभार गाँव चले जाते है। फसलों का हिसाब ले लेते है। उसका ससुराल गाँव में ही है। एक-दो दिन में वह माँ का हाल-चाल जानने मायके चली जाती। उस दिन भी शाम को गई थी। माँ को सांस लेने में तकलीफ हो रही थी। भारीपन भी लग रहा था। घर आकर भाई को फोन कर माँ की हालत

बताई। भाभी ने जवाब दिया था- उमर हो गई है। जीभ पर कन्ट्रोल तो होता नहीं माँ से। उटपटांग खा लिया होगा। गैस हो गई होगी। ठीक हो जाएगी। मन नहीं माना तो रात को मुकेश को फिर से देखने के लिए भेजा। माँ पसीने पसीने हो रही थी। हालत खराब लग रही थी। रात को यहाँ लाकर भर्ती कराया। डॉक्टर ने कहा समय पर आ गए। देर होती तो...

उसने या रश्मि ने भी देर की होती तो… सोचकर वह काँप गई।

"ऐसा है तो माँ को साथ क्यों नहीं रख लेती?", सरोज ने सवाल किया।

"मैं तो रख लूं पर भाभी को लगता है कि मैं जमीन-जायदाद के लिए माँ की देखभाल कर रही हूं। अपने इंसान को मरने के लिए तो नहीं छोड़ सकते इसलिए अस्पताल लाना पड़ा। मेरे 'इनको' लांछन पसंद नहीं। भगवान का दिया बहुत कुछ है। मेहनत, मजदूरी से जिंदगी चल जाती है। तृष्णा रखो तो सारे संसार का धन भी कम पड़ता हैं।" मंगली बोली।

वह महिला, पापा, अम्मा तीनों लगभग आगे-पीछे ही अस्पताल में भर्ती हुए थे। मौत से लड़ लिए। अब उन्हें छुट्टी मिलने वाली थी। तीनों में से किसी की भी लडाई सावित्री से कम नहीं थी। मृत्यु तक अन्न जल के त्याग वाली संथारे की प्रक्रिया में रुकावट डालने वाली सरोज का मायके का काम पूरा हो गया था। एक दो दिन में उसे ससुराल लौट जाना था। समय पर अपनी माँ को अस्पताल पहुँचा कर, तिमारदारी कर जान बचाने वाली रश्मि और मंगली को भी अब शीघ्र ससुराल ही लौटना हैं। सरोज को ख्याल आया। वह मुस्करा दी।

जय कुमार तिवारी
शोधार्थी, हिंदी विभाग
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय जनजातीय विश्वविद्यालय, अमरकंटक, म.प्र.)
ईमेल पता- tiwari501jay@gmail.com
मो. नं. -9691278517

जनरल डिब्बा

ट्रेन में कई कोच होते हैं। अभय प्लेटफॉर्म पर खड़ा है, नजरों के सामने से ए 1 से एस 10 तक के सभी डिब्बे निकल जाते हैं, पर उसे पता है कि उसका इंतजार है वह जनरल डिब्बा, जिसका इंतजार उसके जैसे ही और कई यात्रियों को है। जब भी कोई निम्न वर्ग का युवक बड़े सपने देखता है यह जनरल डिब्बा उसे उसकी स्थिति का अहसास कराता रहता है। काफी संघर्ष के बाद अभय डिब्बे में सवार हो चुका था। गाड़ी चल पड़ी।

पटरियों की खट-खट ध्वनि अभय के कानों से गुजरती हुई कहीं दूर अनंत में विलीन होती उससे पहले भीड़ के शोर में कहीं खो जा रही थी। उसका गाँव जो स्टेशन पहुँचते ही 25 कि.मी. पीछे छूट चुका था, अब भी उसकी आखों में रह-रह कर झलकती और ओझल हो जाती। अभय जैसे ख्वाबों में हो क्योंकि ट्रेन में जगह कम थी इसलिए उसका ख्वाबों में होना ही अच्छा है। तभी कोई महक अपनेपन का अहसास कराती हुई निकली, वह चीज जो दिल में उतरकर आत्मा में समा गई है, शायद यह खुशबू भुने हुए मक्के की है जो उसकी माँ के हाथों से बनी हुई रोटियों सी है। वह कोई जानी पहचानी सी ख़ुशबू अचानक नाक से गुजरती तो उसका मन बेचैन हो उठता। खेतों की वह सुगंध भी उसको आह्लादित करती जबकि गाँव में रहने के दौरान उससे दूर ही रहता था। ऐसा ही होता है जब अनजानी भीड़ में कोई चीज़ हमारी मूल का गुलदस्ता लिए दिखाई दे जाता है, अनायास ही हम उसके प्रति आकर्षित हो जाते हैं। अभय यह सब पहली बार अनुभव कर रहा था।

अब तक वह गाँव से बहुत दूर जा चुका था। उसके लिए एक नया शहर भोपाल।

अभय को स्कूल के दोस्त विपिन से इस्तेहार मिला था कि भोपाल में नौकरी मिल जाएगी। अभय की उम्र इतनी नहीं कि नौकरी के लिए इस तरह बेचैन होना पड़े लेकिन ख्वाब और मजबूरियां उम्र की मोहताज़ नहीं होती। अभय नौकरी पैसों के लिए करना चाहता है न कि कैरियर बनाने के लिए, उम्र भी तो 19 से अधिक नहीं है। घर में खाने- पहनने के लिए तो है, पर्याप्त भी कह सकते हैं लेकिन अभय को वह संतुष्ट कर सकने के लिए अपर्याप्त है। वह अपने अभावों का समाधान पैसों में ही देख रहा है। यह अभय का अभाव है या ख्वाब पता नहीं।

गरीबी और अभाव में भी एक अंतर होता है, गरीबी होती है किंतु अभाव महसूस होता है। कोई गरीब भी संतुष्ट होकर आनंदमय जीवन जी सकता है। अमीर भी असंतुष्ट रहकर अभाव का अनुभव कर सकता है। खैर अभय अमीर तो नहीं लेकिन अभाव का अनुभव अवश्य कर रहा है।

भोपाल पहुँचते ही अभय एसटीडी में जाकर पिता को पहुँचने की सूचना देकर दूसरा फोन विपिन को किया जिसके आश्वासन पर वह यहाँ आया था। मिलकर पता चला किसी पिज़्ज़ा डिलीवरी कंपनी में डिलीवरी ब्वाय का काम है, शुरू में कुछ कम, धीरे-धीरे पगार बढ़ जाएगी। अभय को काम ठीक लगा। फर्जी लाइसेंस का भी बंदोबस्त हो गया। हालांकि अभय स्कूल में ही बाइक चलाना सीख लिया था। लाइसेंस तो फर्जी ही था लेकिन वह गलत इसलिए भी नहीं था क्योंकि असली लाइसेंस भी फर्जी से कम नहीं होता, अंतर सिर्फ इतना है कि उसमें पैसा और समय अधिक लगता है।

भारत में कुछ चीजें बिना किसी ऑथेंटिकेशन के ही बनायी जाती हैं। जिन्हें बिना किसी ट्रेनिंग या जाँच के आधिकारिक तौर पर जारी किया जाता है ड्राइविंग लाइसेंस भी उन्ही में से एक है। इसी तरह अभय का लाइसेंस भी आधिकारिक संस्था द्वारा जारी न होकर भी पर्याप्त था।

अभय काम पर जाने लगा। किसी दिन अभय को एक पार्टी में ऑर्डर पहुँचाना था। पार्सल पच्चीस सौ अस्सी रुपयों का था, जो कि प्रीपेड था। ऑर्डर रिसीव करने के बाद उस युवक ने अभय को पाँच सौ का एक नोट देते हुए कहा- 'ये लो'

'पैसा तो पूरा पेड है'- अभय ने कहा।

युवक- 'यह टिप है'

अभय- 'टिप.....मतलब' (आश्चर्य से पूंछा) अभय कभी ऐसा शब्द नहीं सुना था।

युवक- 'मतलब इसे तुम रख लो'

अभय ने रख लिया और वहाँ से आ गया।

यह क्या था जो उसने दिया अभय सोच में था, फ्री के पैसे देने का रहस्य अभय को समझ नहीं आ रहा था।

क्वार्टर पर अभय ने विपिन को बताया, विपिन उछल कर बोला- 'पाँच सौ......टिप में....मुझे तो इतने तो मुझे कभी कहीं से नहीं मिले...'

'वो तो ठीक है लेकिन ये बिना माँगे भीख सी बात मेरे समझ में नहीं आ रही है'- अभय ने कहा

विपिन- 'अरे भीख कहकर इसे बदनाम मत करो भाई, यह अमीर लोगों का अपना शौक है, स्वीकार करो और मजे करो।'

अभय- 'देना भी शौक होता है क्या, शौक है तो किसी गरीब भिखारी को ही दें ना, हमें क्यों बलि का बकरा बना रहे हैं।'

विपिन- 'अरे भाई किस दिशा में सोच रहे हो, तुम्हे न लेना हो तो मुझे दे दिया करो भाई....'

यह लो रखो.... कह कर जाने को हुआ और मुड़ कर फिर से कहा- 'मुझे डर लगता है विपिन कहीं यह दुनिया मेरी आदत न बन जाए...'

विपिन- 'जिस दिन मजबूरी बन जाएगी तब क्या करोगे अभय'

अभय चुप था, मन में ही फैसला किया कि 'कभी आदत न बनने दूंगा, उससे पहले ही अपने रस्ते ले लूंगा' और चला गया।

आगे जब-जब भी अभय का इस अमीरी शौक टिप से सामना होता है तो उसका स्वाभिमान किसी खोखली दंभ के पैरों तले कुचलता हुआ सा अहसास होता।

अभय को काम पर जाते हुए लगभग तीन महीने हो गये। अमीर से अमीर घरों, पार्टियों में डिलीवरी करने का अवसर मिला। जब कभी भी अभय डिलीवरी के लिए जाता वह खुद को तलाशता, लेकिन कभी किसी घर में वह खुद को न पा सका।

सैलरी मिलने के बाद अभय अपनी कुछ आकांक्षाओं को पूरा करना चाहता था लेकिन पिछले कुछ दिनों के मानसिक उलटफेर की वजह से वह ऐसा नहीं कर सका। अभय धीरे-धीरे पत्थर होने लगा। पत्थर से तात्पर्य यहाँ संवेदना विहीन नहीं है, पत्थर की एक खास विशेषता होती है कि संघर्षों के ताप में तपने के बाद भी उसकी शीतलता बनी रहती है, दृढ़ता होती है और धैर्य होता है। यह धैर्य ही था कि अभय अभी तक काम में बना हुआ है।

अभय इस समय महसूस करने लगा है कि जो काम वह कर रहा है, इससे पैसे तो मिल सकते हैं, लेकिन यह उसे उसकी दुनिया से दूर ले जा रहा है। अभय का जीवन भले ही अभावग्रस्त रहा हो, लेकिन उसको उससे बहुत लगाव था, इसलिए डर भी रहा था कि कहीं इसकी आदत न लग जाए और अपने मूल से दूर चला जाए। किसी व्यक्ति के जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी यही होती कि उसे किसी ऐसी चीज़ की आदत लग जाना जिससे वह अपना अस्तित्व ही गंवा बैठे।

अभय कमरे में लेटा हुआ है। गाँव की स्मृतियां उसके कानों में क्रीड़ा कर रही हैं। वह नींद में नहीं है फिर भी आँखें नहीं खोल रहा है, क्योंकि उसे डर है कि ये चित्र आंखों से ओझल न हो जाए। धीरे से नींद आ जाती है।

अगले दिन वह रेल्वे स्टेशन की तरफ जा रहा है। वह आज काम पर भी नहीं गया। वह कुछ भी निर्णय लेने में खुद को असमर्थ पा रहा था, इसीलिए छुट्टी ले कुछ दिनों के लिए गाँव वापस जाने को निकल पड़ता है।

वापस जाते ही अभय को एक ऐसी त्रासद घटना का सामना करना पड़ता है, जो हम सब के लिए भी असहनीय होगा, अभय के लिए तो था ही। इसकी सूचना अभय के दोस्त विपिन को दे दी गई थी, वहाँ से पता चला कि अभय पहले ही घर के लिए निकल चुका है।

घर जल चुका था, बुझाते समय पापा भी झुलस गए थे। "यह सब कैसे हुआ?" अभय ने किसी से पूछा, जवाब नहीं मिला। जवाब से कुछ बदलने वाला भी नहीं था। अभय घर का सबसे बड़ा लड़का है, उसकी दो छोटी बहनें थी। पिता की हालत को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह बहुत जल्दी ठीक नहीं होने वाले हैं। अभय जो भी कुछ पैसे लाया था घर की मरम्मत और पिता के इलाज में खर्च हो चुके थे। तीन महीने पहले भी वह पैसों के लिए काम करना चाहता था, लेकिन तब कोई मजबूरी नहीं थी। तब जो भी था वह था उसके ख्वाब और उसका शौक,जो कुछ दिन पहले ही कमजोर हो गया था। लेकिन आज...... अभय काम से कैसे दूर रह सकता है, काम चाहे जैसा भी हो, अभय को पसंद आए या नहीं, करना ही पड़ेगा। तीन महीने पहले जो अभय के लिए यह काम मात्र एक विकल्प था लेकिन अब एक मात्र विकल्प बन गया है। पाँच दिन रुकने के बाद अभय फिर से प्लेटफॉर्म पर खड़ा है, ट्रेन आ रही है और गाँव से शहर की ओर जाती ट्रेन का वह जनरल डिब्बा मजबूरियों से खचाखच भरा है। न जाने कितने अभय उस डिब्बे में हैं। इस स्टेशन के बाद ये अभय भी उसी में खो जाएगा। ट्रेन की भी अपनी सीमाएं हैं लेकिन इस डिब्बे की नहीं, यह है जनरल डिब्बा।

अंजलि
शोधार्थी, हिंदी
दिल्ली विश्वविद्यालय
ईमेल पता- angelduggal93@gmail.com
संपर्क सूत्र : 8130623579

जुगनी लोकगीत : इतिहास और सामाजिक-सांस्कृतिक महत्त्व

जुगनी एक पारंपरिक लोक गीत है, जिसकी उत्पत्ति पंजाबी संस्कृति और सूफी संगीत से जुड़ी हुई है। 'जुगनी' उत्तर भारतीय और पंजाबी लोकगीतों का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा है, जो आत्मा, प्रेम, सामाजिक जागरूकता और आध्यात्मिकता को दर्शाने वाला एक अनूठा लोक रूप है। यह पारंपरिक लोक कथाओं, भक्ति और रहस्यवादी विचारों से प्रेरित है। इस शब्द की उत्पत्ति 1906 में पंजाब के एक छोटे से गाँव, मंझा से शुरू हुआ था। बिश्ना और मंजा जैसे कवि, जो पढ़े-लिखे नहीं थे, लेकिन उनके पास शानदार रचनात्मकता और संगीत की समझ थी, उन्होंने इस संगीत को विकसित किया। वे अपने संगीत के द्वारा स्वतंत्रता-पूर्व पंजाब के गाँवों में जाकर लोगों को अपनी रचनाएँ सुनाते थे। उनकी यह शैली बहुत ही स्वच्छंद थी, यानी इसमें कोई ठेठ नियम या पाबंदी नहीं थी। उनका संगीत और कविताएँ किसी खास स्क्रिप्ट या ढाँचे में नहीं बंधती थीं। यही वजह है कि उनकी रचनाओं को आज भी एक अलग पहचान मिलती है। इस तरह से ये कवि और उनकी संगीत शैली पंजाब के लोक-संस्कृति का अहम हिस्सा बन गई। समय के साथ, कवियों और गायकों ने जुगनी की इस विशेष शैली का इस्तेमाल करना शुरू कर दिया। उन्होंने जुगनी के जरिए अपनी कहानियाँ सुनाई और उस समय की सांस्कृतिक और सामाजिक परिस्थितियों को लोगों तक पहुँचाया। जुगनी में लोग अपनी जीवन की कहानियाँ, समाज के मुद्दे और अपने अनुभवों को गीतों के रूप में व्यक्त करते थे।

जुगनी को और भी लोकप्रिय आलम लोहार ने बनाया। "आध्यात्मिक कविता में जुगनी का अर्थ जीवन का सार या जीवन की भावना से लिया जाता है। जुगनी एक गायन शैली है जो कि सबसे पहले एक प्रसिद्ध पंजाबी लोक नायक आलम लोहार (दिवंगत) के द्वारा बनाया गया था, जो कि पाकिस्तान के निर्माण के पहले ब्रिटिश भारत के छोटे से गाँव पंजाब से संबंध रखते थे। आलम लोहार के बाद अन्य गायकों को इस शैली ने अपनाया है। आलम लोहार को सबसे पहले सूफी आध्यात्मिक लेखन से इस कविता को लोकप्रिय बनाने का श्रेय दिया जाता है और उसके बाद अनेक गायकों द्वारा उपसर्गों की तरह उसे एक लड़की के रूप में बदल दिया जाता है।" जुगनी का अधिकांश भाग आध्यात्मिक होता है और यह व्यक्ति के भगवान से संबंध और दुनिया को समझने से संबंधित होता है। कई कवियों और दार्शनिकों ने इसे सामाजिक, राजनीतिक और दार्शनिक टिप्पणियों के रूप में इस्तेमाल किया। जुगनी में अक्सर भगवान का नाम लिया जाता है और एक सच्चाई की बात होती है, जो आलम लोहार के सूफी

लेखन से प्रभावित थी। जुगनी एक प्रकार का पूजा उपकरण भी है, जिसे तस्बीह कहा जाता है, जो सूफ़ी-संतों द्वारा पवित्र शब्दों के जाप के लिए इस्तेमाल किया जाता है। इसके अलावा, जुगनी पंजाबी महिलाओं के आभूषण के रूप में भी उपयोग होती है।

आलम लोहार ने 1947 से पहले अपने पहले प्रदर्शनों के दौरान 'जुगनी' गाने की इस शैली की शुरुआत की थी। वह 1930 के दशक में जब एक बाल कलाकार थे, तब उन्होंने जुगनी गाना शुरू किया था। उस समय ब्रिटिश भारत में रिकॉर्डिंग की सुविधाएं कम थीं, इसलिए उनके कई गाने रिकॉर्ड नहीं हो पाए। बाद में आलम लोहार ने 'जुगनी' नाम से एक एलपी रिकॉर्ड किया, जो 1965 में गोल्ड डिस्क एलपी बन गया। आलम लोहार ने जुगनी के कई रूपों को रिकॉर्ड किया है और इनमें से कुछ एलपी रिकॉर्ड्स पर अब भी सुने जा सकते हैं। इसके अलावा, उनके कुछ पुराने ब्लैक एंड व्हाइट टीवी रिकॉर्डिंग्स भी यूट्यूब पर देखी जा सकती हैं। दुनिया भर के अन्य गायकों, जैसे उनके बेटे आरिफ लोहार ने भी आलम लोहार की जुगनी रिकॉर्डिंग से प्रेरणा ली है।

'अलिफ़ अल्लाह... इश्के दी बूटी' एक प्रसिद्ध पंजाबी लोक गीत है, जिसे **आलम लोहार** ने बहुत ही प्रभावशाली तरीके से गाया है। इस गीत के बोल बहुत गहरे अर्थ रखते हैं और इसके माध्यम से प्रेम, विश्वास और आध्यात्मिकता की भावनाओं को व्यक्त किया गया है।

"अलिफ़ अल्लाह... इश्के दी बूटी
मंन दी मिटटी विच लायी तू
इस मिटटी द न मौसम कोई
बिन मौसम यार खड़ाई तह
ओ जग जग जीव्ह जीवे जुगनी जिसने
मौल मन विच बूटी लायी तू
फिर मेरे एव जुगनी (जुगनी जी)
ए वे अल्लाह वलेय (जुगनी जी)।"

जुगनी की गायन शैली में तुकबंदी होती है, जिसे अक्सर हँसी और कभी-कभी भावनाओं से भरा हुआ माना जाता है। इसे विभिन्न गायकों ने अपनाया है, जैसे आसा सिंह मस्ताना, कुलदीप मानक, हरभजन मान, आरिफ लोहार, गुरदास मान, गुरमीत बावा, रब्बी शेरगिल और अन्य ने भी गया है। पाकिस्तान में आलम लोहार ने जुगनी

को बहुत प्रसिद्ध किया और उनके बेटे आरिफ लोहार ने इसे आधुनिक रूप में पेश किया। आरिफ ने जुगनी को समकालीन वाइब्स और रॉक प्रभाव के साथ प्रस्तुत किया, जो आज भी लोकप्रिय है। आरिफ लाहौर का प्रसिद्ध जुगनी की कुछ पंक्तियां-

"अलिफ़ अल्लाह चमबे दी बूटी ते
मेरे मुर्शिद मन में लाई हूँ
नफ़ी इस्पात का पानी दे के
हर रंगे हरजाई हूँ
ओ जुग जुग जीवे मेरा मुर्शिद
सोहना और जिस ने यह बूटी लाई हूँ
पीर मेरेया, जुगनी जी
ए वे अल्लाह वलेया
दी जुगनी जी।"

पंजाबी जुगनी लोक गीत बहुत प्रसिद्ध हैं और पंजाब के लोक संगीत की महत्त्वपूर्ण धरोहर माने जाते हैं। इन गीतों में प्रेम, हंसी-खुशी, दु:ख, यात्रा, और पंजाबी संस्कृति की विभिन्न भावनाएँ व्यक्त की जाती हैं। 'जुगनी' शब्द विशेष रूप से एक महिला पात्र को दर्शाता है, जो अपने प्रेमी या जीवन साथी से दूर होती है और उसकी यादों में खोई रहती है- "पंजाबी लेखक जमील पॉल के अनुसार 'जुगनी' एक पंजाबी प्रेमिका की अपने प्रेमी के वियोग को बयां करने वाली दु:खद कहानी है। कहानी में उसका प्रेमी उसे छोड़कर चला जाता है। उसे ढूंढने के लिए वह जोगन बनकर गाँव-गाँव भटकती है लेकिन उसका प्रेमी उसे नहीं मिलता। जमील पॉल कहते हैं कि उस जोगन युवती को ही 'जुगनी' का नाम दिया गया है और साथ ही वह ये भी दावा करते हैं कि 'जुगनी' कश्मीर की पहाड़ियों से चोलिस्तान के मध्य किसी क्षेत्र में वजूद में आई होगी।" पंजाबी लोक गीतों में जुगनी का चित्रण बहुत रोमाँटिक और भावुक रूप में किया जाता है-

"जुगनी जुगनी, जुगनी ये जुगनी,
तेरे बिना जिन्दगी अधूरी है।

चले जा तुँ, तु कुछ बोले बिना,

तेरे बिना जिन्दगी अधूरी है।"

यह गीत एक जुगनी के बारे में है जो अपने साथी या प्रेमी से बिछड़ने के बाद उसे याद करती है। गीत में यह बताया जाता है कि जुगनी का जीवन बिना उसके साथी के अधूरा है। यह प्रेम और मिलन की भावना को व्यक्त करता है। 1947 में भारत और पाकिस्तान का विभाजन हुआ और इसी के साथ 'जुगनी' गीत भी दो हिस्सों में बंट गया। हालांकि यह नहीं बताया गया कि जुगनी का बँटवारा कैसे और कब हुआ, लेकिन यह सच है कि विभाजन के साथ जुगनी भी दोनों देशों के पंजाबों में बंट गया। पाकिस्तान में इस गीत के बारे में विभिन्न व्याख्याएँ दी गई हैं। कुछ पाकिस्तानी गायकों ने 'जुगनी' को महिला के गहनों से जोड़ा है, जबकि कुछ ने इसे प्रेमिका के दर्द और आह के रूप में देखा है।

पाकिस्तानी गायकों ने जुगनी को 1857 की क्रांति के साथ जोड़ते हुए इसे भारतीय सैनिकों की संघर्ष और ब्रिटिश द्वारा की गई निर्दयता की कहानी माना है। वे मानते हैं कि जुगनी का जन्म लाहौर और स्यालकोट के छावनियों से भागे सैनिकों की दु:खभरी दास्तान से जुड़ा है। उनका मानना है कि 'जुगनी' जस्सर या इसके आस–पास के किसी क्षेत्र में अस्तित्व में आई और वे 'जुगनी' को इस प्रकार बयान करते हैं-

"मेरी जुगनी दा डग्गा इक

एस ने फड़ लई हथ् विच इट्

मारे वैरियां से सिर विच ओ भाई मेरिया जुगनी ओ।"

यह पंक्ति जुगनी के संघर्ष, साहस और उसके द्वारा किए गए संघर्षों को व्यक्त करती है। यह एक भावनात्मक और कठिन यात्रा को दर्शाता है जिसमें जुगनी अपने शारीरिक और मानसिक कष्टों के बावजूद अपने आत्मसम्मान के लिए लड़ रही है। पोठोहारी में 'मेरी' की जगह 'मेहदी' शब्द बोलने में आता है। इस लिए पोठोहारी में जुगनी इस प्रकार गाई जा रही है-

"मेहँदी जुगनी जांदी डंडे-डंडे

सिर भोवें कलेजा कंबे-कबे

कुफर रिज़क रोटी मंगे-मंगे

चन्न मारदियां जुगनी लीरां नी

असां मदद पुँजा पीरां नी…"

मंजूर जल्ला अपनी लिखी 'जुगनी' में हज़रत अली की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं-

"मेरी जुगनी दी फरियाद

करदी पाकि नबी नू याद

शाला नगर रहे आबाद

करसी रोज़-ए-महश्हर इमदाद।"

इसका मतलब है कि जुगनी अपनी प्रार्थनाओं में हज़रत अली और हज़रत मुहम्मद की मदद और आशीर्वाद की कामना करती है। वह यह भी चाहती है कि उसकी दुनिया और समाज हमेशा खुशहाल रहे और कयामत के दिन उसे मदद मिले। भारत एक ऐसा देश है, जहाँ कई तरह की संस्कृतियाँ पाई जाती हैं। यहाँ के हर इलाके की लोक संगीत की अपनी खास शैली है, जो उस इलाके की संस्कृति को दर्शाती है। हर राज्य और क्षेत्र के पास अपने खुद के वाद्ययंत्र, लय (संगीत की गति) और धुन होती हैं, जो उस इलाके की विशिष्ट पहचान बनाती हैं।

भारत में लोक संगीत केवल एक कला का रूप नहीं है, बल्कि यह देश की सांस्कृतिक धरोहर का अहम हिस्सा है। इसी तरह जुगनी पंजाबी लोक गीत पीढ़ी दर पीढ़ी चलती आ रही परंपराओं और इतिहास से जुड़ा हुआ है। लोक संगीत न केवल मनोरंजन का एक जरिया है, बल्कि यह समाज की कहानियाँ, दुःख-सुख, त्योहारों और रीति-रिवाजों को भी प्रदर्शित करता है। इस संगीत में स्थानीय लोगों की भावना और उनकी जिंदगी के अनुभव की झलक मिलती है। 20वीं शताब्दी में जुगनी ने पंजाबी लोक संस्कृति का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन गया। यह अब सिर्फ धार्मिक गीतों तक नहीं सीमित रही, बल्कि इसे आम जीवन, प्रेम, दर्द, खुशी और सामाजिक मुद्दों पर भी गाया जाने लगा। विभिन्न गायकों ने इसे अपनी शैली और अंदाज में प्रस्तुत किया, जिससे इसकी लोकप्रियता और भी बढ़ी। जुगनी अब एक ऐसा गीत बन गया था जिसे हर कोई अपनी-अपनी भावनाओं और अनुभवों के हिसाब से गा सकता था। इस तरह, जुगनी न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक गीतों का रूप बदलकर लोक जीवन में घुलमिल गई, बल्कि यह पंजाबी संगीत की एक पहचान बन गई। समय के साथ जुगनी ने बॉलीवुड और पंजाबी म्यूजिक इंडस्ट्री में भी जगह बना ली है। कई लोकप्रिय पंजाबी और हिंदी गानों में इसे प्रयोग किया गया है। प्रसिद्ध गायकों जैसे कि गिद्धा, भांगड़ा और बॉलीवुड गायकों ने इसे अपने संगीत में शामिल किया है।

बुल्ले शाह की जुगनी-

"चौबी हजार नमाज़ में करदी ओ

ते तु पांज ऐ किड़ियाँ पढ़ा

बुल्ले शाह दा एको ही मंका

जेड़ा मौला ही मौला करता

अल्लाह बिस्मिल्लाह तेरी जुगनी

हाए तारेया वे तेरी जुगनी

साईं मौला वालेया वे जुगनी।"

इस गीत में बुल्ले शाह ने बताया है कि धार्मिक कर्म (जैसे नमाज़ और पूजा) भी यदि सच्चे प्रेम और ईश्वर के प्रति श्रद्धा के बिना किए जाएं तो उनका कोई मूल्य नहीं होता। 'जुगनी' यहाँ आत्मा, प्रेम और सच्ची भक्ति का प्रतीक है, जो सच्चे मार्गदर्शक के साथ जुड़ा हुआ है। **रब्बी शेरगिल** ने अपने गाने 'जुगनी' में आधुनिक दृष्टिकोण से इसे प्रस्तुत किया है-

"जुगनी देखन चली देस

जिथे जनमै सी कदी वेद

जिथों कड्डा सी अंग्रेज

की बनेया उसदा

की बनेया उसदा हाल

केड़े कीते ओस कमाल

वीर मेरेया वे जुगनी

वीर मेरेया वे जुगनी कहंदी आ

इक राह नवे आज पंदी आ।"

जुगनी एक नई राह पर चलने निकली है, अब जुगनी अपने वर्तमान हालात और वहाँ किए गए अद्भुत कार्यों पर विचार करती है। वह यह महसूस करती है कि अब एक नई दिशा और रास्ता सामने है, जो पहले कभी नहीं था।

'वीर मेरेया' का मतलब है, जुगनी अपने प्रिय को संबोधित करती है और वह एक नए मार्ग की ओर चलने की बात करती है। समय के साथ जुगनी गीत का आधुनिक संस्करण पारंपरिक पंजाबी लोकगीत का एक नया रूप बन गया है, जिसे समय के साथ बॉलीवुड फिल्मों और संगीत उद्योग में पेश किया जा रहा है। पारंपरिक 'जुगनी' गीत एक महिला की भावनाओं और उसके अनुभवों को व्यक्त करता था, जो समाज के प्रतिबंधों से परे अपने जीवन को पूरी स्वतंत्रता के साथ जीती है। जब इसे आधुनिक रूप में प्रस्तुत किया गया तो इसमें बदलाव हुआ और इसे नए संगीत, रचनात्मकता और समकालीन धुनों के साथ जोड़ा गया। आधुनिक गीतों में महिला के विचार, प्रेम संबंधों, और जीवन के बदलावों के बारे में अधिक खुलकर बात की जाती है। इन गीतों के बोल और संगीत युवाओं को आकर्षित करने के लिए और भी जोशीले होते हैं। बॉलीवुड फिल्मों जैसे 'तनु वेड्स मनु' (2011) और 'कॉकटेल' (2012) में जुगनी गीत आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक बीट्स और डीजे मिक्सिंग के साथ प्रस्तुत किया गया। 'तनु वेड्स मनु' मूवी का जुगनी गीत-

> "ओ जुगनी नॉटी नखरेवाली जुगनी नॉटी है
>
> या जुगनी नॉटी नखरे वाली सारे पिंडा दी एह पाली दिल विच प्यार बुला ते गाली
>
> ओए फिर मेरेया हो जुगनी।"

यह गाना एक आधुनिक पंजाबी गीत का उदाहरण है, जिसमें पारंपरिक 'जुगनी' को समकालीन जीवनशैली और संगीत के साथ जोड़ा गया है। 'जुगनी' पंजाबी लोकगीतों की एक विशेष महिला पात्र है, जो अपनी स्वतंत्रता, साहस और मस्ती से जीने की प्रतीक होती है। इस गीत में 'जुगनी' एक आत्मनिर्भर, फैशनेबल और मस्तमौला लड़की है, जो अपने जीवन को अपने तरीके से जीती है। इस प्रकार 'जुगनी' का आधुनिक रूप पारंपरिक लोक धुनों को समकालीन संगीत और युवाओं की सांस्कृतिक भावनाओं से जोड़ता है, जिससे यह गीत हर पीढ़ी में बहुत लोकप्रिय बन गया है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि जुगनी एक महत्त्वपूर्ण लोकगीत शैली है, जो भारतीय लोकजीवन की सांस्कृतिक चेतना, सामाजिक अनुभवों तथा आध्यात्मिक संवेदनाओं की सशक्त अभिव्यक्ति प्रस्तुत करती है। इसके माध्यम से लोकसमाज ने प्रेम, विरह, मानवीय संबंधों, सामाजिक विसंगतियों, विद्रोही स्वर, नैतिक मूल्यों तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों को सहज, सरल और प्रभावशाली रूप में व्यक्त किया है। समय के साथ जुगनी ने अपने स्वरूप में परिवर्तन स्वीकार करते हुए समकालीन सामाजिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक संदर्भों को भी आत्मसात किया है, जिसके कारण इसकी प्रासंगिकता निरंतर बनी हुई है। जुगनी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह लोकजीवन के अनुभवों को जनभाषा में व्यक्त करते हुए समाज के विविध वर्गों के बीच संवाद स्थापित करती है।

यही कारण है कि यह लोकपरंपरा सामाजिक जागरूकता, सांस्कृतिक संरक्षण तथा मानवीय मूल्यों के संवाहक के रूप में भी प्रतिष्ठित हुई है। वर्तमान समय में भी जुगनी के विविध रूप लोकसंगीत, साहित्य, रंगमंच, चलचित्र तथा डिजिटल माध्यमों में दिखाई देते हैं, जो इसकी जीवंतता और व्यापक स्वीकार्यता का प्रमाण हैं। इस प्रकार जुगनी भारतीय लोक संस्कृति की एक सशक्त धरोहर है, जो अतीत की विरासत को वर्तमान से जोड़ते हुए भविष्य की सांस्कृतिक चेतना को भी समृद्ध करने की क्षमता रखती है।

संदर्भ सूची-

1. लोकगीत संचार और प्रदर्शन (परिचय). पृष्ठ संख्या- 2
2. जुगनी लोक गीत. गूगल
3. पंजाबी लोक गीत. पृष्ठ संख्या- 94-95
4. वहीं पृष्ठ संख्या- 95
5. बुल्ले शाह का जुगनी गीत यू ट्यूब- चौबी हजार नमाज़ में करदी ओ
6. रब्बी शेरगिल का जुगनी गीत
7. 'तनु वेड्स मनु' मूवी का जुगनी गीत गूगल लिरिक्स

लोकेश कुमार
शोधार्थी, हिंदी
दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क सूत्र - 8802398441
ईमेल पता- luckysingh29jan@gmail.com

साठोत्तरी हिंदी उर्दू ग़ज़ल में अभिव्यक्त सामाजिक बोध

शोध सार : प्राचीन काल से ही व्यक्ति अपने भावों की अभिव्यक्ति साहित्य की विभिन्न विधाओं के माध्यम से अपने समय एवं समाज को चित्रित करता आया है। उन्हीं प्रचलित विधाओं में एक लोकप्रिय विधा है- ग़ज़ल। ग़ज़ल जिसने एक लंबी यात्रा तय की, जो अरबी साहित्य के कसीदा विधा से निकलती है और फ़ारसी में अपनी स्वतंत्र पहचान बनाते हुए भारत की भूमि पर कदम रखती है और फिर उर्दू साहित्य की पहचान बन लोगों के बीच लोकप्रिय हुई। भारत की विभिन्न भाषाओं में अपनी पैठ बनाते हुए हिंदी साहित्य में भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। ग़ज़ल का शुरुआती दौर प्रेमपरक ही रहा लेकिन समय के साथ ग़ज़ल ने भी परिवर्तन को स्वीकार करते हुए विभिन्न विषयों को अपने भीतर समाहित किया। इनमें सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक व सांस्कृतिक विषय प्रमुख रहे हैं। भारत के संदर्भ में देखें तो स्वतन्त्रता के पश्चात बहुत सारे परिवर्तन देखने को मिलते हैं। 1960 ई. के बाद का साहित्य लगभग असंतोष, अस्वीकृति एवं विद्रोह के स्वर को व्यक्त करने वाला साहित्य है जो समकालीन जीवन से सीधा साक्षात्कार करते हुए नज़र आता है। इन तमाम विषयों को ध्यान में रखते हुए इस शोध आलेख में हिंदी और उर्दू ग़ज़ल के परिप्रेक्ष्य में सामाजिक बोध को देखने का प्रयास किया गया है।

बीज शब्द : ग़ज़ल, सामाजिक, बोध, आम आदमी, गरीबी, भ्रष्टाचार, मानवीय मूल्य, समकालीन, स्त्री, दलित।

आमुख- साहित्यिक विधाओं में ग़ज़ल एक लोकप्रिय विधा है। ग़ज़ल ने एक लंबी यात्रा तय कर जनमानस के मन में महत्त्वपूर्ण पहचान बनाई है। आज ग़ज़ल अनेकों भाषाओं में लिखी व पढ़ी जा रही है। हिंदी और उर्दू भाषा में इसने अपनी महत्त्वपूर्ण पहचान बनाई है। ग़ज़ल हिंदी में उर्दू से और उर्दू में फ़ारसी से आई है। ग़ज़ल को स्वतंत्र नाम व पहचान फ़ारसी साहित्य से ही मिला परंतु इसका मूल स्रोत अरबी शायरी है। ग़ज़ल की उत्पत्ति अरबी शायरी के प्रचलित काव्य विधा कसीदे से मानी जाती है जिसके चार भाग तश्बीब, गुरेज़, मदह और दुआ होते हैं। इसके पहले भाग तश्बीब को ही फ़ारसी कवियों द्वारा ग़ज़ल कहा गया है। कसीदे के पहले भाग तश्बीब में शायर कसीदे की भूमिका तैयार करता है। इसमें वह स्वयं की ज़िंदगी से जुड़े अपने भाव-विचार के साथ-साथ सांसारिक बातें करने के लिए स्वतंत्र होता है। आमतौर पर यह भाग श्रृंगारिक अथवा प्रेमपरक ही हुआ करता था। ज़ाहिर है कि अरबी साहित्य में इसे स्वतंत्र रूप नहीं मिला लेकिन फ़ारसी साहित्य में आने पर ग़ज़ल ने एक स्वतंत्र विधा के रूप में खुद को स्थापित किया। इस पर चर्चा करते हुए डॉ. रामदास नादारे अपनी पुस्तक में बताते हैं- ''उर्दू शायरी, फ़ारसी शायरी

का अनुकरण है और फ़ारसी शायरी अरबी का। अरबी शायरी में कसीदों (प्रशंसागीत) की तश्बीब (आरम्भ) में ग़ज़ल भी शामिल थी अर्थात् कसीदों के आरम्भ में (प्रेमपरक) विषय भी लिखे जाते थे। इसको ग़ज़ल अथवा तगज़्ज़ल कहा जाता था। यह तमहीद (आरम्भ या भूमिका) धारावाहिक होती थी। फ़ारसी कवियों ने इस अंश को ग़ज़ल के नाम एक स्थायी काव्यरूप बना दिया।"[1] आगे चलकर "उर्दू कवियों ने भी इसी नाम को सहर्ष एवं सम्मानपूर्वक स्वीकार कर लिया। हिंदी में भी अधिकतर विद्वानों ने ग़ज़ल नाम ही स्वीकार किया तथा कुछ अन्य नाम भी विद्वानों द्वारा दिए गए हैं जिसमें 'गीतिका, गीतल, अनुगीत, नयी ग़ज़ल, आवामी ग़ज़ल, जनवादी ग़ज़ल, जातीय ग़ज़ल, तेवरी' आदि प्रमुख हैं।"[2]

फ़ारसी में ग़ज़ल का शब्दिक अर्थ- "वाज़नान गुफ़्तगू करदन अर्थात 'औरतों से बातें करना' है।"[3] ग़ज़ल का स्थायी भाव प्रेम है। अरबी से फ़ारसी और फ़ारसी से उर्दू और इसके बाद भारत की अनेकों भाषाओं में ग़ज़ल ख़ुद को स्थापित करती हुई आगे बढ़ती चली गयी। भारत में ग़ज़ल की शुरुआत अमीर ख़ुसरो से मानी जाती है। इनकी एक ग़ज़ल के कुछ शेर जिसमें एक पंक्ति फ़ारसी और दूसरी पंक्ति खड़ी बोली की है जिसे रेख़्ता/रेख्ती भी कहा गया है। पंक्तियां इस प्रकार है-

"ज़ि हाल-ए-मिस्कीं मकुन तग़ाफ़ुल दुराय नैना बनाये बतियाँ
चू ताब-ए-हिज्रां न दारम-ऐ-जां, न लेव काहें लगाए छतियाँ
यकायक अज़ दिल, दुचश्म-ए-जादू बसद फ़रेबम बबुर्द तस्कीं
किसे पड़ी है जो जा सुनावे पियारे पी से हमारी बतियाँ।"[4]

खुसरो की एक और ग़ज़ल जो हिंदवी में लिखी गयी है उसके कुछ शेर इस प्रकार हैं

"जब यार देखा नैन भर दिल की गयी चिंता उतर
ऐसी नहीं कोई अजब, रखे उसे समझाय कर।"[5]

इसी प्रकार ग़ज़ल का विकास होता गया और एक तरफ उर्दू साहित्य में अनेकों प्रसिद्ध ग़ज़लकार हुए जिनमें वली दकनी पहले शायर माने जाते हैं और इनके बाद आबरू से लेकर हातिम तक, फिर मीर, सौदा, दर्द, मज़हर, नज़ीर, मुसहफ़ी, नासिख, आतिश, ग़ालिब, मोमिन, ज़ौक़, जफर तथा आधुनिक युग में हाली, हसरत मोहानी, जिगर, फ़िराक़, इंशा, बशीर, निदा फ़ाजली जैसे ग़ज़लकारों ने समाज को केंद्र में रखते हुए अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की तो दूसरी ओर हिंदी ग़ज़ल भी उर्दू के साथ-साथ अपना विकास करती रही लेकिन लंबे समय तक सुप्त अवस्था में रही और उर्दू ग़ज़ल हिंदी ग़ज़ल से बहुत आगे निकाल गयी। इसके बाद भारतेन्दु पूर्व काल से प्यारेलाल शौकी, चन्द्रभान,

गिरिधरदास ने इस परंपरा में प्राण फूंके और देखते-देखते हिंदी ग़ज़ल ने भी गति पकड़ने लगी। भारतेन्दु काल से ग़ज़ल ने गति पकड़ी और भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण, हरिऔध, नाथूराम, बेढब बनारसी, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, निराला, दिनकर, बलबीर सिंह, अज्ञेय आदि ने ग़ज़ल रचना करके हिंदी ग़ज़ल का मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1960 के आसपास इसका विकास और तेज़ी से हुआ जिसका श्रेय दुष्यंत कुमार को जाता हैं। दुष्यंत के बाद हिंदी ग़ज़ल के क्षेत्र में एक क्रांति सी आ जाती है और हर ओर हिंदी ग़ज़लकार खुलकर लिखना प्रारम्भ करते हैं जिनमें सूर्यभान गुप्त, गोपालदास नीरज, कुँअर बेचैन, हनुमंत नायडू, चंद्रसेन विराट, ज़हीर कुरैशी, अदम गोंडवी, वशिष्ठ अनूप, विज्ञान व्रत, रामदरश मिश्र आदि ग़ज़लकार समाज में व्याप्त समस्याओं को केंद्र में रखकर ग़ज़ल की रचना करते हैं। 1960 के बाद ग़ज़लों का वर्ण्य विषय पूर्णतः समाज सापेक्ष हो गया और सामाजिक बोध को स्पष्ट करने की क्षमता उसमें तीव्र हो गयी।

'साहित्य समाज का दर्पण अथवा प्रतिबिंब होता है' यह कथन अधिकतर विद्वानों ने स्वीकार किया है। इस कथन के अनुसार समाज में जो कुछ घटित होता है उसका वर्णन साहित्य समय-समय पर करता आया है। साहित्य अपने समय एवं समाज से प्रतिफलित होता है। अतः उसमें अपने समाज की सामाजिक स्थितियाँ चित्रित होती हैं। साहित्यकार सामाजिक परिस्थितियों से तटस्थ एवं उदासीन होकर साहित्य रचना नहीं कर सकता है क्योंकि यही एक साहित्यकार की सामाजिक प्रतिबद्धता एवं समाज के प्रति आत्मीयता है। साहित्य और समाज के आपसी संबंध की बात करें तो मनुष्य ने अपनी विभिन्न आवश्यकताओं और उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज का निर्माण किया है। मनुष्य द्वारा निर्मित समाज एक ऐसी संस्था है जो मानवीय जीवन को विकसित करने वाली महत्त्वपूर्ण इकाई है। समाज अपने दायित्वों को पूर्ण न कर पाने के कारण उसके भीतर असमानता, शोषण, धार्मिक कट्टरता, अंधविश्वास, अज्ञानता आदि दोष आ जाते हैं। इन्हीं दोषों के फलस्वरूप व्यक्त की जाने वाली क्रिया-प्रक्रिया सामाजिक बोध की संज्ञा प्राप्त करती है जो कि एक विचारात्मक रूप है और यह समाज के क्रिया-कलापों को प्रतिबिंबित करती है।

साहित्य अपने कथ्य के लिए समाज पर ही आश्रित होता है। साहित्य का उद्देश्य व्यक्ति और समाज का कल्याण करना है। साहित्य व्यक्ति और समाज के बीच रागात्मक संबंध को स्थापित करता है। हिंदी उर्दू ग़ज़ल ने भी साहित्य के इसी धर्म का निर्वाह किया है। आज का ग़ज़लकार ग़ज़ल के कथ्य को संकीर्णता से ऊपर उठाकर समाज के व्यापक धरातल पर स्थापित करने का प्रयास किया है। इसीलिए आज की ग़ज़ल में सामाजिक बोध की अभिव्यक्ति बड़ी ही प्रखरता से स्पष्ट नज़र आती है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात देश की सामाजिक स्थितियाँ अत्यंत दयनीय रही हैं विशेषकर 1960 के बाद देश में गरीबी, महंगाई, आर्थिक विषमता, भ्रष्टाचार, सांप्रदायिकता, आतंकवाद, अलगाववाद आदि कई समस्याएँ देश के सामने मुँह खोले खड़ी होती हैं अतः समसामयिक सामाजिक बोध ग़ज़लकारों का कथ्य बनना स्वाभाविक ही है। 15 अगस्त 1947 को देश स्वतंत्र होता है लेकिन स्वतंत्रता के साथ ही बँटवारे का दर्द भी लोगों को झेलना पड़ता है उसके बाद एक के बाद एक तीन युद्धों की विभीषिका का सामना

भी देश करता है ऐसे में देश और देश की जनता के क्या हालात होंगे ये हम बखूबी समझ सकते हैं। आम आदमी की पीड़ा का चित्रण इन ग़ज़लों में बखूबी देखा जा सकता है दुष्यंत कुमार आम आदमी की विवशता का चित्रण करते हुए अपनी ग़ज़ल में लिखते हैं-

"न हो कमीज़ तो पाँवों से पेट ढँक लेंगे
ये लोग कितने मुनासिब हैं इस सफर के लिए।"[6]

कुँअर बेचैन ने भी आम आदमी की त्रासदी को व्यक्त करते हुए अपनी ग़ज़ल में रामफल को प्रतीक बनाकर सम्पूर्ण समाज के आम आदमी की व्यथा का वर्णन करते हुए कहा है-

"कैसे बताएं हम तुम्हें क्या है रामफल
आँसू के एक गाँव का मुखिया है रामफल
मारा है जिसको रोज़ महाजन के ब्याज ने
बेबस से एक गरीब का रुपिया है रामफल
जब जी किया उधेड़ दी चाकू की नोंक से
गोया फटी कमीज़ की बखिया है रामफल।"[7]

आम आदमी की देश में क्या स्थिति है और वह अपने जीवन को किस स्थिति में जीने को विवश है उसका ज्वलंत उदाहरण अदम गोंडवी अपनी एक ग़ज़ल में करते हैं वे कहते हैं-

"आप कहते हैं सरापा गुलमोहर है ज़िंदगी
हम गरीबों की नज़र में इक कहर है ज़िंदगी
भुखमरी की धूप में कुम्हला गयी अस्पताल की बेल
मौत के लम्हात से भी तल्खतर है ज़िंदगी।"[8]

आम आदमी की पीड़ा को व्यक्त करती उर्दू के प्रसिद्ध ग़ज़लकार बशीर बद्र की ग़ज़ल का एक शेर जिसमें वे बताते हैं-

ज़िंदगी तूने मुझे कम से कम दी है ज़मीं

पाँव फैलाऊँ तो दीवार में सर लगता है।"[9]

इस आम आदमी की पीड़ा को अभिव्यक्त करने में उर्दू के प्रसिद्ध ग़ज़लकार निदा फ़ाज़ली भी पीछे नहीं हैं वे भी अपनी एक ग़ज़ल में कहते हैं-

मुट्ठी भर लोगों की हाथों में लाखों की तक़दीरें हैं

अलग-अलग हैं धर्म इलाके एक सी सब ज़ंजीरें हैं।"[10]

इस दौर के हिंदी और उर्दू दोनों ग़ज़लकारों की नज़रें देश के उस आम आदमी पर पड़ती हैं जिसकी उम्मीदें थीं कि देश की आज़ादी मिलने पर उनकी गरीबी मिटेगी और वो अपना जीवन सुखी से जियेंगे परंतु ऐसा हुआ नहीं बल्कि स्थितियां और बदतर हो गयीं। देश में स्थिति ऐसी है कि चाहे अमीर हो या गरीब सभी लोग भूख और प्यास से तड़प रहे हैं। इस पर अदम गोंडवी अपनी ग़ज़ल के माध्यम से कहते हैं –

"महल से झोपड़ी तक एकदम घुटती उदासी है।

किसी का पेट खाली है किसी की रूह प्यासी है।"[11]

यदि हिंदी ग़ज़ल की बात की जाए तो इसकी शुरुआत ही आम आदमी और उसके जीवन के विभिन्न पक्षों से उसके सरोकार बड़ी ही मजबूती से जुड़े हुए हैं। इस पर रामकुमार कृषक जी की ग़ज़ल का एक शेर विचारणीय है-

"घर में मौसम की उम्मीदें किये बैठे हैं लोग,

मौसम आया बंद खिड़कियाँ किये हुए हैं लोग।"[12]

क्योंकि हिंदी ग़ज़लों का विषय सामाजिक सरोकारों से भरा हुआ है इसलिए यहाँ ग़ज़लकार समाज के खुरदुरे यथार्थ को व्यक्त करने के लिए व्यंग्य शैली का प्रयोग करते हुए नज़र आते हैं और कभी-कभी ये स्थिति नारेबाजी जैसी लगने लगती है जिस पर रामदरश मिश्र जी चिंता व्यक्त करते हुए कहते हैं कि- "आज जो हिंदी ग़ज़ल लिखी जा रही हैं, वे दुष्यन्त की परंपरा का निर्वहन करने की सनक में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था की बनी बनायी विसंगतियों को छींट रही हैं। एक जैसी बात सब कह रहे हैं। बहुत सारे लोग बने बनाये सच को शब्दों में बांध देते हैं। उसे अपने भीतर लाकर अपनी आंच में तपाते नहीं हैं। अतः अधिकांश ग़ज़लें बहिर्मुखी बन कर रह गयी हैं।"[13]

उर्दू ग़ज़ल की परंपरा की बात करें तो यह अपने शुरुआती दौर में प्रेमपरक अर्थात हुस्न-ओ-इश्क़, विसाल, हिज्र आदि तक सीमित रही परंतु मीर, ग़ालिब इकबाल और फ़ैज़ के समय तक इसमें समसामयिक परिस्थितियाँ और दर्शन आदि जुड़ते गए और इस प्रकार समयानुसार उर्दू ग़ज़ल ने विभिन्न विषयों को अपने भीतर समाहित करती गयी। साठोत्तरी अथवा आज की उर्दू ग़ज़ल सामाजिक बोध से जुड़ चुकी है जिसमें आम आदमी के जीवन, उसकी समस्याओं, रिश्ते-नाते आदि सभी का चित्रण देखने को मिल जाता है। पाकिस्तान के मशहूर उर्दू शायर नासिर काज़मी एक आम आदमी की व्यथा को अपनी ग़ज़ल में इस प्रकार व्यक्त करते हुए कहते हैं-

"हमारे घर की दीवारों पे नासिर

उदासी बाल खोले सो रही है।"[14]

निदा फ़ाज़ली भी इस आम आदमी के दर्द को व्यक्त करने में पीछे नहीं हैं वे आम आदमी की हालत का बयान अपनी ग़ज़लों में व्यक्त करते हुए बताते हैं कि आज स्थिति इतनी भयावह है कि व्यक्ति तन्हाइयों का शिकार हो रहा है, वे कहते हैं-

"हर तरफ हर जगह बेशुमार आदमी

फिर भी तन्हाइयों का शिकार आदमी।"[15]

आम आदमी की ज़िंदगी दिन-प्रतिदिन बदतर होती जा रही है। वह अपनी जिंदगी का बोझ ढोते-ढोते मायूस और उदास होता जा रहा है और ऐसे में उसके जीने की इच्छाएँ समाप्त होती जा रही हैं क्योंकि भूख और बेकारी के कारण उसका धैर्य दिन-प्रतिदिन टूट रहा है। ग़ज़लकार कलाधर अपनी ग़ज़ल में इसे व्यक्त करते हुए कहते हैं-

"किस कदर मायूस वो होने लगा है

ज़िंदगी का बोझ वो ढोने लगा है

भूख, बेकारी, छलावा झेल कर के

हाय सचमुच धैर्य वो खोने लगा है।"[16]

निष्कर्षतः जाए तो ग़ज़ल मूलतः अभिव्यक्ति का एक ऐसा माध्यम है जो बहुत ही तेज़ी से पाठकों को अपनी ओर आकर्षित करती है और अपना प्रभाव उनपर छोड़ती है। ग़ज़ल की शुरुआत भले ही श्रृंगारिक रूप से हुई हो परंतु समय के अनुसार ग़ज़ल ने समसामयिक मुद्दों को अपने भीतर समाहित किया और लोगों के बीच लोकप्रिय होती गयी। भारत में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद बहुत से परिवर्तन देखने को मिलते हैं। विशेषकर 1960 के आसपास

लोगों का आज़ादी के प्रति मोहभंग होने लगता है। चारों ओर भुखमरी, बेरोज़गारी, महंगाई आदि से आम जनता त्रस्त हो जाती है। तभी इस ओर ध्यान देते हुए हिन्दी और उर्दू दोनों ही भाषाओं के ग़ज़लकार अपनी ग़ज़लों में समाज की इस व्यथा का वर्णन कर समाज के प्रति लोगों को जागरूक करने का प्रयास करते हैं।

संदर्भ सूची-

1. सिंह, गरिमा. (2018). समकालीन उर्दू हिंदी ग़ज़ल परंपरा और विकास. दिल्ली: नयी किताब प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 13
2. सहर. सादिक़ा असलम 'नवाब', डॉ (2007). साठोत्तरी हिंदी ग़ज़ल शिल्प और संवेदना. दिल्ली: प्रकाशन संस्थान. पृष्ठ संख्या- 19-20
3. सिंह, गरिमा. (2018). समकालीन उर्दू हिंदी ग़ज़ल परंपरा और विकास. दिल्ली: नयी किताब प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 13
4. नारंग, गोपीचंद. (2002). अमीर खुसरो का हिन्दवी काव्य. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 36
5. विवेक, ज्ञान प्रकाश. (2012). हिंदी ग़ज़ल की विकासयात्रा. पंचकूला : हरियाणा ग्रंथ अकादमी. पृष्ठ संख्या- 43
6. कुमार, दुष्यंत. (1977). साये में धूप. दिल्ली : राधाकृष्ण प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 13
7. बेचैन, कुँअर. (1983). शामियाने कांच के. गाज़ियाबाद : प्रगीत प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 50
8. गोंडवी, अदम. (1987). धरती की सतह पर. उत्तर प्रदेश : अनुज प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 80
9. बद्र, बशीर. (2021). कल्चर यक्साँ. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 18
10. फ़ाज़ली, निदा. (2001). आँखों भर आकाश. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 144
11. गोंडवी, अदम. (1987). धरती की सतह पर. उत्तर प्रदेश : अनुज प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 51
12. मुजावर, सरदार. (2001). हिंदी ग़ज़ल ग़ज़लकारों की नज़र में. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 35
13. दनकौरी, दीक्षित. (2009). ग़ज़ल दुष्यंत के बाद भाग- 3. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 15
14. विवेक, ज्ञान प्रकाश. (2012). हिंदी ग़ज़ल की विकासयात्रा. पंचकूला : हरियाणा ग्रंथ अकादमी. पृष्ठ संख्या- 22
15. फ़ाज़ली, निदा. (2001). आँखों भर आकाश. दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 154
16. अस्थाना, डॉ. रोहिताश्व सं. (2016). नवीनतम हिंदी ग़ज़लें. दिल्ली : सामयिक प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 37

डॉ. रवि प्रकाश
शोधार्थी, उर्दू विभाग, दिल्ली विश्विद्यालय
संपर्क सूत्र : 9716844915
ईमेल पता : ravi.raviprakash11@gmail.com

श्री अरविंद और राष्ट्रीय चेतना

औपनिवेशिक धरातल और अंग्रेजी शिक्षा-दीक्षा से गहरी आस्था रखने वाले अधिकतर इतिहासकार बुद्धिजीवी राष्ट्र को आधुनिक परिघटना मानते हैं। भारत को राष्ट्र के रूप में मानने की यह परंपरा शिक्षा और अकादमिक संस्थानों में दशकों तक चलन में रहा था।सवाल यह उठता है कि यदि अंग्रेज न आते तो क्या हम कभी राष्ट्र के रूप में संगठित न हो पाते? बौद्धिक समाज की परिधि में एक ऐसा संगठनात्मक गिरोह सतत् सक्रिय रहा है जो राष्ट्रवाद के विरोध में आयातित जानकारियों को ही ज्ञान का उत्तम स्रोत मानता रहा है।भारतीय ज्ञान परंपरा के विरुद्ध विदेशी रक्तरंजित अवधारणाएं इस गिरोह के लिए वेद वाक्य की तरह हैं। ऐसे तथाकथित इतिहासकार बुद्धिजीवियों के राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय चेतना संबंधी चिंतन पर एक बड़ा प्रश्न चिन्ह सदैव रहेगा। भारतीय उदात्त सनातन वैचारिक परम्परा और वैश्विक उत्थान की मंगलमय भावनात्मकता के सम्मिश्रण से परिपूर्ण ज्ञान गंगा सम्पूर्ण विश्व को सदियों से समृद्ध करती आई है। इस से यह प्रमाणित होता है कि भारतीय अस्तित्व के सनातन चरित्र को राष्ट्रविरोधियों के प्रमाण-पत्र की आवश्यकता नहीं है। भारत केवल एक देश या राष्ट्र का नाम नहीं है अपितु यह भारतीय संस्कृति के सनातन अस्तित्व का नाम है ; जिसके मूल में 'सर्वे भवन्तु सुखिन। सर्वे संतु निरामया' की सशक्त भावनात्मक वैचारिकता है। भारत ने सदियों की गुलामी सहन की। मुगलिया सामंतवाद की पुश्तैनी अव्यवस्था और लूट से जर्जर भारत ब्रिटिश साम्राज्यवादी हड़प की नीति का शिकार हो गया। पराधीनता के इस लंबे कालखंड में भी 'वसुधैव कुटुंबकम्' की भारतीय भावनात्मक वैचारिकता सतत प्रवाहमान रही। पराधीन भारत के समक्ष अनेक आंतरिक और बाह्य चुनौतियों से संघर्ष के परिणाम-स्वरूप राष्ट्रवादी विचारधारा और राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार में सहयोग प्राप्त हुआ।राष्ट्रवादी विचारधारा से निर्मित राष्ट्रीय चेतना एक जटिल और व्यापक अवधारणा है। राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि भारतीय जन मानस के अवचेतन में सदियों के संताप के विरुद्ध यह एक तीव्र और गैर-समझौतावादी प्रतिरोध की आत्मा है। यहाँ यह भी कहना जरूरी है कि यह प्रतिरोध आयातित नहीं अपितु भारत भूमि के प्रति आस्थावान चिंताओं का परिणाम था और है। ये आस्थावान चिंताएं उस अव्यक्त के प्रति व्यक्त की भौतिक निष्ठाओं के प्रतिफलन के रूप में हैं। यह मुख्य कारण है कि राष्ट्रवादी चेतना का स्वरूप व्यापकता, जटिलताओं और असीम संभावनाओं को अपने अंदर समाहित करता है। ये असीम संभावनाएं सम्पूर्ण विश्व की आवश्यकताओं के विकल्प के तौर पर पहचानी जा रही हैं एवं विश्व के वैचारिक वातावरण में अपने योगदान से 'वसुधैव कुटुंबकम्' की अवधारणा को साकार कर रही हैं।

भारतीय ज्ञान और महान संस्कृति की परंपरा में अनेक भाषाओं के विद्वान, कर्मयोगी, आध्यात्मवादी, पत्रकार, अनुवादक, सतत विद्यार्थी, दर्शनशास्त्री, समाजवैज्ञानिक, संगठनकर्ता, क्रांतिकारी, राष्ट्रवादी साहित्यिक चिंतक की आंदोलनकारी भूमिका निभाने वाले श्री अरविंद के यहाँ राष्ट्र एक विचार से अधिक भावनात्मक इकाई है। यह प्रगतिशील भाव इनके समस्त रचना कर्म और व्यक्तित्व में झलकता है। भारत के प्रति अकथ निष्ठा और संवेदना को इस उद्धरण से समझा जा सकता है- "इस भूमि पर तीस लाख मेरे भाई हैं ; जिनमें से कई भुखमरी से मर रहे हैं और सबसे ज्यादा दु:ख और पीड़ा से पीड़ित हैं।"[1] परपीड़ा का यह भाव मानवता के प्रति गहन वैचारिक प्रतिबद्धता का परिणाम है। अंग्रेजी राज से सुख सुविधाएं बटोरने वाले वर्ग को श्री अरविंद भारत की वास्तविक तस्वीर दिखा रहे हैं। इस अवसरवादी वर्ग के विरुद्ध तीस लाख उत्पीड़ित भारतीयों की चिंता का प्रश्न राष्ट्रवादी प्रश्न है। इस प्रश्न के केंद्र में भारतीय संस्कृति के समग्रतावादी चिंतन को देखा जा सकता है जहाँ सबका साथ सबका विकास ही परम लक्ष्य है। जहाँ प्रत्येक व्यक्ति एक संपूर्ण इकाई में समाहित हो कर राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तत्पर रहता है। श्री अरविंद की विचारभूमि इसी 'तत्परता' से प्रेरणा लेती है। श्री अरविंद के यहाँ राष्ट्र केवल एक भूमि का टुकड़ा नहीं है। यह कोई क्षेत्रफल नहीं है बल्कि- "अन्य लोग अपने देश को वस्तु के रूप में देखते हैं जिसमें कई क्षेत्र, मैदान, जंगल, पहाड़ और नदियां शामिल हैं और कुछ नहीं है। मैं इसे अपनी माँ के रूप में देखता हूं।"[2] श्री अरविंद ने राष्ट्र की संकल्पना को विस्तार देते हुए अतीत की भारतीय परंपरा 'जननी जन्मभूमि स्वर्गादपि गरीयसी' से जोड़ दिया। जिस भारतभूमि पर निरंतर अत्याचार और शोषण के अध्याय लिखे जा रहे थे वहाँ भारतीय जन के मन में भारतीय चिंतन परंपरा का यह वाक्य बिजली की तरह कौंध गया। यह अपने आप में क्रांतिकारी प्रयास था।

राष्ट्रवाद के संदर्भ में श्री अरविंद कहते हैं कि- "सनातन धर्म यही राष्ट्रवाद है।"[3] राष्ट्र और धर्म का यह सम्बन्ध प्रमाणित करता है कि राष्ट्र ही धर्म है और धर्म ही राष्ट्र है। इसी संदर्भ में निशंक श्री अरविंद और राजनरायन बोस के साझा प्रयासों को रेखांकित करते हुए लिखते हैं कि- "यह केवल हिंदू धर्म की भावना नहीं थी जो यूरोपीय ईसाइयत के हमले के खिलाफ उठती थी, लेकिन भारतीय संस्कृति और मानवता की पूरी भावना हर तरह के अनुचित प्रभाव और विदेशी प्रभुत्व के खिलाफ बचाव करने के लिए उठ खड़ी हुई।"[4] यह स्व का भाव महत्त्वपूर्ण कारण था जो विदेशी आक्रांताओं के विरुद्ध समय-समय पर प्रतिरोध के रूप में अपनी ऐतिहासिक उपस्थिति दर्ज करता रहा था। यह स्व का भाव व्यक्तिगत महत्त्वकांक्षाओं से परिचालित न होकर विराट मानवता और भारतीय सांस्कृतिकता से प्रभावित था। राष्ट्रीयता की बलवती भावना श्री अरविंद के लेखन और वाचन दोनों को निर्देशित करती रही है। राष्ट्रीय स्वाधीनता का लक्ष्य श्री अरविंद में राष्ट्र प्रेम का कारण बना। राष्ट्र के शोषण को उन्होंने प्रत्यक्ष देखा और जिया था- "बंगाल के कस्बों और गांवों से होते हुए उन्होंने ब्रिटिश राज की घोर अमानवीयता को देखा।"[5] घोर अमानवीयता के समय में मानवता के राष्ट्रीय गीत क्रांति का सूर्य बनकर उभरे। निशंक अपनी पुस्तक में लिखते हैं

कि- "उनकी (श्री अरविंद) की कलम ने आग उगली।"[6] यह आग श्री अरविंद की कलम से निकल कर भारतीय जन मानस के अंतर में जल उठी जिसका परिणाम यह हुआ कि- "जहाँ श्री अरविंद ने अपने देशवासियों में अंग्रेजों के खिलाफ रोष उत्पन्न करने में सफलता पाई ; वहीं उन्होंने देशवासियों की उत्सुकता जागृत कर उनके भीतर देशभक्ति का जज्बा उभारा।"[7] यह उत्सुकता से परिपूर्ण जज्बा हमें हिंदी कविता में अनेकानेक स्थानों पर देखने को मिलता है उदाहरणस्वरूप- 'मुझे तोड़ लेना वनमाली उस पथ पर तुम देना फेंक। मातृभूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जाएं वीर अनेक।' श्री अरविंद राष्ट्र के प्रति समर्पित भाव से काम कर रहे थे। उनका यह समर्पण ठोस परिस्थितियों से आध्यात्मिकता के संघर्ष के परिणाम के तौर पर भी देखा जा सकता है। श्री अरविंद ने आध्यात्मिकता को एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया और उसे राष्ट्रीय चेतना के विकास में प्रयोग किया। श्री अरविंद कहते हैं कि- "भगवान ने मुझे इस महान मिशन को पूरा करने के लिए पृथ्वी पर भेजा है।"[8] श्री अरविंद के लिए राष्ट्रीय चिंता केवल तत्कालीन दायित्व नहीं अपितु एक महान योजना थी जिसका संबंध ईश्वरीय प्रेरणाओं से भी परिचालित था। अव्यक्त और व्यक्त के बीच श्री अरविंद का राष्ट्र प्रेम पल्लवित-पुष्पित होता रहा।

प्राचीन भारतीय आध्यात्मिकता ने श्री अरविंद के राष्ट्र प्रेम को बहुत गहराई तक प्रभावित किया था। निशंक अपनी पुस्तक में इस पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि- "श्री अरविंद भारत की राजनीतिक स्वतंत्रता के प्यासे थे तो यह इसलिए क्योंकि वे भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता को फिर से सम्पूर्ण विश्व में ले जाकर भारत को विश्व शक्ति बनाना चाहते हैं।"[9] हम आज जिसके लिए प्रयास कर रहे हैं श्री अरविंद ने यह उद्देश्य दशकों पहले निर्धारित कर लिया था। साम्राज्यवादी दासता से मुक्त कर भारत को विश्व शक्ति के रूप में देखना एक महान संकल्प था जो श्री अरविंद को राष्ट्र उत्थान के उदात्त प्रयास की राह पर ले जाता है। ये उदात्त प्रयास भारत को विश्व शक्ति बनाने की महान इच्छा के साथ- "जीवन का शक्तिशाली कानून है, मानव विकास का बड़ा सिद्धांत आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव का शरीर जिसके लिए भारत को हमेशा संरक्षक अनुकरणीय और मिशनरी होना चाहिए।"[10] आध्यात्मिक ज्ञान और अनुभव का शरीर अर्थात आत्मा और शरीर के बीच अंतर्विरोधों को समाप्त कर एक संपूर्ण मानव बनने की प्रक्रिया। यह प्रक्रिया निरंतर महान दायित्वों को पूरा करने की समर्थ भावना को मनुष्य के अंदर पैदा करती है। अंग्रेजी राज के शोषण, जनविरोधी नीतियों और भारत की अखंडता को समाप्त करने के प्रयासों का श्री अरविंद पर गहरा प्रभाव पड़ा। बंगाल विभाजन ने श्री अरविंद को बहुत व्यथित कर दिया लेकिन श्री अरविंद ने इस व्यथा को पीड़ा नहीं बल्कि शक्ति बनाया। निशंक लिखते हैं कि- "श्री अरविंद का मानना था कि कोई भी अन्य घटना राष्ट्रीय भावना को इतनी गहराई से नहीं भड़का सकती थी।"[11] गैरजरूरी विभाजन ने राष्ट्रीय संघर्ष में अखंडता और एकता की भावना को बल प्रदान किया। अखंड भारत की उदात्त भावना सदियों से भारत की पवित्र पितृ भूमि पर होते विभाजनों के विरुद्ध एक भावनात्मक एवं विचारधारात्मक प्रतिरोध है। बंगाल विभाजन को श्री अरविंद ने एक तूफान

की संज्ञा देते हुए कहा कि- "आज हमारे ऊपर तूफान आ गया है। मैंने उसे आते देखा है।"[12] राष्ट्रहित की समग्र चिंता ही विभाजन के विरुद्ध अखंडता के विचार को पैदा कर सकती थी।

अंग्रेजी राज के विरुद्ध अभियान में श्री अरविंद शामिल हुए। इनके लेखन और निरंतर प्रयासों से प्रभावित होकर भारत में तीव्र प्रतिरोध हुए। अंग्रेजों के अत्याचार के विरुद्ध- "पुजारियों ने उन दंपत्तियों का विवाह कराने से मना कर दिया जिनमें से किसी एक के द्वारा भी विदेशी कपड़े पहने गए हों।"[13] उपरोक्त उदाहरण से पता चलता है कि प्रतिरोध की दिशा कितनी स्पष्ट, गंभीर और उद्देश्यपूर्ण थी। प्रत्यक्ष तौर पर यह पाश्चात्य संस्कृति के विरुद्ध भारतीयता का प्रतिरोध था। शिक्षा के क्षेत्र में भी- "सरकारी स्कूलों और कॉलेजों का भी बहिष्कार किया गया और नए लोगों ने सरकारी नियंत्रण से मुक्त राष्ट्रीय शिक्षा प्रदान करना शुरू किया।"[14] शासक शिक्षा के माध्यम से शासित को नियंत्रित करने का प्रयास करता है। इसलिए शिक्षा के विरुद्ध यह प्रयास ब्रिटिश राज को सीधी चुनौती की तरह था। श्री अरविंद के व्यक्तित्व का यह महान पक्ष था कि वह किसी भी परिस्थिति में स्व नियंत्रित रहे- "मैनें कभी उन्हें अपना आपा खोते नहीं देखा। कोई भी जूनून कभी नहीं देखा। बिना आत्म संस्कृति के स्वयं पर, स्वयं की इंद्रियों पर नियंत्रण रखना संभव नहीं है।"[15] राष्ट्रीय चेतना के प्रचार-प्रसार में स्वयं पर नियंत्रण पहली शर्त है। श्री राम के सम्पूर्ण जीवन से भी हमें यही प्रेरणा मिलती है। श्री अरविंद के सिद्धांत पक्ष और व्यवहार पक्ष में भारतीय संस्कृति की यह झलक देखने को मिलती है। स्टेटमेन के संपादक श्री अरविंद के प्रयासों के विषय में लिखते हैं कि- "हम अरविंद घोष को केवल क्रांतिकारी राष्ट्रवादी और स्वतंत्र समाचार पत्र के संपादक के रूप में जानते हैं। जिसने भारतीय दैनिक से राष्ट्रवाद को जगा दिया।"[16] दअरसल राष्ट्र, राष्ट्रवाद और राष्ट्रीय चेतना पर विचार करना एक जोखिम है। श्री अरविंद ने अपने सम्पूर्ण जीवन में कई प्रकार से यह जोखिम प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से उठाया। श्री अरविंद ने साहित्य पर विचार करते हुए लिखा कि- "कविता अथवा चिंतन सरनी तत्कालीन संस्कृति अथवा सभ्यता से अप्रभावित होकर नहीं रह सकती है।"[17] युगबोध का दबाव कविता को उठाना ही पड़ेगा। समय के सवालों को कविता यदि रेखांकित नहीं करती है तो यह उसकी सीमा को निर्धारित करने में राह को आसान करता है।

समग्रता में हम कह सकते हैं कि श्री अरविंद के विचारों में राष्ट्र का स्वरूप गहरी संवेदनात्मकता से परिचालित है। यह संवेदनात्मकता राष्ट्रीय गौरव और राष्ट्रीय अस्मिता के प्रति निरंतर जागरूक होती चली जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि सनातन के प्रति अकाट्य विश्वास, अथक तार्किकता, उदात्त मानवता, राष्ट्रीय अस्तित्व, ज्ञान और भक्ति से निर्मित विवेक, अव्यक्त और व्यक्त के प्रति महान उत्तरदायित्व का निर्वहन, अन्याय के विरुद्ध शास्त्र और शस्त्र दोनों का यथा समय प्रयोग एवं संगठन का महत्त्व आदि से उत्पादित चेतना ही राष्ट्रीय चेतना है। श्री अरविंद स्वयं कहते हैं कि सच्चा देशभक्त वही है जो देश के लिए जिए और देश के लिए मरे। श्री अरविंद के यहाँ यह निस्वार्थ त्याग ही राष्ट्रीय चेतना का मूल केंद्र है।

संदर्भ सूची-

1. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 68
2. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 69
3. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 54
4. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 46
5. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 52
6. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 52
7. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 52
8. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 72
9. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 67
10. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 66
11. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 50
12. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 50
13. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 77
14. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 77
15. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 60
16. निशंक, पोखरियाल. रमेश. (2021). मानवता के प्रेणता महर्षि अरविंद. नई दिल्ली : प्रभात प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 86
17. चौहान, प्रताप सिंह. डॉ. (1970). हिंदी काव्य और अरविंद दर्शन. कानपुर : युगवाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 90

मनीष कुमार
शोधार्थी, हिंदी
दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क सूत्र : 9315666312
ईमेल पता- gautammanishkumar1996@gmail.com

‘उत्तर कबीर नंगा फकीर’ में अभिव्यक्त सामाजिक यथार्थ

‘उत्तर कबीर नंगा फकीर’ उपन्यास का ताना-बाना कबीर और गांधी के चिंतन-मनन के इर्द-गिर्द घूमता दिखाई देता है। यह उपन्यास तीन अनुच्छेदों में वर्णित है, पहले अनुच्छेद में कबीर देव-लोक से मृत्यु-लोक में आते हैं, जहाँ माया उन्हें अपने वश में करना चाहती है। कबीर के पास विकल्प था कि वे आरामदायक जिंदगी देवलोक में जी सकते थे लेकिन, आरामदायक जिंदगी को ठोकर मारकर मृत्युलोक में आते हैं और मृत्युलोक में आने के बाद पूरे भारतीय समाज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक सभी दृष्टियों से भारत विशेषकर बनारस की गलियों में घूमते हुए व्यावहारिक अनुभव को प्राप्त करते हैं। दस महीने बाद देवलोक में वापस लौटते हैं। दूसरे अनुच्छेद में गांधी से उनका वार्तालाप होता है यह वार्तालाप तीसरे अनुच्छेद तक भी चलता रहता है। जहाँ पहला अनुच्छेच्द यथार्थवादी, दूसरा दार्शनिक तो तीसरा वर्तमान समस्याओं और लोगों का हमारे महापुरुषों के प्रति क्या दृष्टिकोण है- इसको प्रति पादित करता है। वैसे तो यह उपन्यास ‘विरले दोस्त कबीर के’ उपन्यास के दूसरे भाग के रूप में लिखित है। उपन्यास का रचनाक्रम 2009 से 2019 के मध्य रहा है परंतु इसकी पृष्ठभूमि सन 2009 का लोकसभा चुना रहा है इसका स्पष्ट वर्णन लेखक ने करते हुए कहा है कि- “गो की उपन्यास की इस दूसरे भाग की पृष्ठभूमि वैसी ही रही है जैसा कि 2009 के समय में लिखी गई है।”[1] सन् 2009 की पृष्ठभूमि होते हुए भी यह उपन्यास स्वतंत्र भारत की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियों को प्रस्तुत करता है। यह प्रस्तुतीकरण ऐतिहासिक-पौराणिक यथार्थ के सम्मिश्रण से बनी गई कथा के माध्यम से किया गया है।

सामाजिक दृष्टि से प्रजनन यंत्र बनती स्त्रियाँ हैं, चाय की दुकानों पर बाल मजदूरी करते बच्चे हैं, बेरोजगारी और नशाखोरी करते युवा है तो कम उम्र में बूढ़े होते व्यक्ति। राजनीतिक उठा-पटक, नारेबाजी, खिचड़ी सरकार बनाने हेतु सेटिंगबाजी, सौदेबाजी व मंत्रालय का बंटवारा, सत्ता प्राप्ति के हथकंडे इत्यादि कोई भी क्षेत्र उपन्यासकार से अनभिज्ञ नहीं है। आर्थिक विषमता के फलस्वरूप टूटे एकता के सूत्र, जल की अनुपलब्धता, गंदगी, भुखमरी, शिक्षा और धर्म का व्यवसायीकरण कोई भी आर्थिक पहलू छूटा नहीं है। जिससे आधुनिक भारत का एक यथार्थ मानचित्र सा उपन्यास में प्रस्तुत होता है।

कबीर तत्कालीन सत्ता के द्वारा रचित युग के उस सामाजिक विकास के दावे को कटघरे में खड़ा कर देते हैं जिसमें महिला विकास का नारा बड़े जोर-जोर से दिया जाता था। कबीर देखते हैं कि- ‘‘दसियों बच्चों को जन्म देने वाली स्त्रियाँ चालीस वर्ष में ही बूढ़ी-सी दिखने लगी हैं। उनके चेहर की झुर्रियाँ और चिपके-चिपके उरोज़ उनकी बेबसी की अजीब दास्तांन सुना रहे थे।’’[2] ये विशेष समुदाय से संबंधित स्त्रियाँ पुरुषों की उस मानसिकता को दिखा रही थी। जिनके लिए केवल और केवल स्त्री प्रजनन यंत्र थी। यहाँ आकर महिला विकास के दरवाज़े बंद से हो गये थे, स्त्री स्वावलंबिता के नारे खोखले नज़र आने लगे थे। पुरुष अपने धार्मिक आकाओं और एक विशेष राजनीतिक पार्टी के वोट के चलते इन महिलाओं को नजर-अंदाज किया जाने लगा था। कबीर के समकालीन रविदास जिनके पूर्वज शिक्षा से वंचित होकर दूसरों के जानवर चराते और रविदास मोची का कार्य करते थे और कबीर जो कि अपने जीवन की कठोरता को व्यक्त करते हुए कहते थे कि-

‘‘गाँव कु ठाकुर खेत कुनापे,
कैथ खर्जन पारे
जेरी जेवरी खेती पसारे, सब मिलि
मौका मारे हो
खोतो महतो विकट बलाही,
सिरकास बांध का पारे
बुरो दीवान दादी नहीं लागे,
एक बांधे एक मारे हो राम।’’[3]

जो विभीषिका कबीर ने झेली, ऐसे में कबीर चाहते थे कि वे सब अगली पीढ़ी न झेले। लेकिन जब देखते हैं कि भारतीयों में- ‘‘हर कोई अधिकार चाहता है। स्वर्त्तव्य बोध किसी को नहीं है।’’[4] इस क्रम में भारतीय शिक्षा का रूप देखते है तो मौन हो जाते हैं क्योंकि जब देखते हैं कि मार्किन की माँ उससे विद्यालय न जाने के बारे में पूछती है तो बच्चे का हाजिर जवाब कि ‘‘का पगलाइल हई माई? आजकल मास्टर साहब छुट्टी पर गयल हउवे। अउर रहबो करेब त चुपचाप सूरती ठोकेन। एही लिए स्कूल जाये के मन ना करत। बेकार क टाइम खर्च होला।’’[5] इसी शिक्षा व्यवस्था का परिणाम है कि समाज के शोषित-पीड़ित बच्चे शंभु की तरह चाय की दुकान पर बाल मज़दूरी करते हैं और मालिक की मार और गालियों को सहते हैं, क्योंकि यह अंग्रेजी शिक्षा व्यवस्था में औपनिवेशिक नीति का परिणाम थी क्योंकि अंग्रेज़ों का मानना था कि- ‘‘हम अपने सीमित संसाधनों के बल पर सभी लोगों को शिक्षित नहीं

कर सकते हैं। हमें ऐसे वर्ग का निर्माण करना होगा कि जो मध्यस्थ की तरह हमारी बात उन लोगों को पहुँचाएँ जिन पर हम शासन कर रहे है। ऐसा वर्ग जिसका खून और रंग तो हिंदुस्तानी होगा, मगर उसकी रुचियाँ, नैतिक मूल्य और बुद्धि अंग्रेज़ी होगी।"[6] इसी शिक्षा व्यवस्था के परिणामस्वरूप कबीर बाल मजदूरी करते हुए एक बच्चे को चाय की दुकान पर देखते हैं और मालिक समर द्वारा बार-बार उसे गालियों से लांछित किया जाता है, तो उनके सामने कहीं ना कहीं प्रश्न खड़ा हो जाता है कि आखिरकार इन 600 सालों में बदला क्या है? कहाँ है वह मुगलकाल जिसके कसीदे कहे जाते हैं? कहाँ है वह अंग्रेजी शिक्षा जो अपने आप को सभ्य करने का माध्यम मानती थी? और कहाँ है वह गोरे अंग्रेज जो शिक्षा के विकास के नारे भरते थे? ये हवा हवाई बातें तब खुल जाती है जब देखते है कि बालक बाल मजदूरी करने के लिए मजबूर है।

इस पूरी प्रक्रिया ने 'सूक्खी' और 'पारश' जैसे बेरोजगार और नशेखोरों की एक भीड़ पैदा कर दी है। इस शिक्षा के संदर्भ में गांधी जी ने सही कहा था कि "वर्तमान शिक्षा राष्ट्र की आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं है। इसमें भारतीय समाज का लाभ नहीं होता। वर्तमान शिक्षा के लोक-जीवन तक पहुँचने की बात तो दूर रही, परिवार को भी उससे कोई लाभ नहीं मिलता।"[7] इसलिए कबीर जब सुक्खी' और 'पारश' को लेकर चिंतन करते हैं तो सोचते हैं कि "अभी इनकी उम्र ही क्या है? बीस-पचीस वर्ष कोई काम, न कोई धंधा। एक चौराहे से दूसरे चौराहे तक की परिक्रमा करना ही इनका काम है। आखिर इस देश का नौजवान बेरोजगार का जीवन कब तक जिएगा? कब इनके हाथों को काम मिलेगा?"[8] ये सवाल नया नहीं है भारतेंदु भी इस समस्या से जूझते हुए कहते थे-

"तीन बुलाए तेरह आवैं।

निज निज बिपता रोई सुनावैं।

आँखौ फूटे भरा न पेट।

क्यों सखि सज्जन नहिं ग्रैजुएट।"[9]

जातिगत भेदभाव, छुआछूत और ऊंच-नीच के संदर्भ में कबीर मध्यकालीन भारत के सापेक्ष आधुनिक भारत में एक परिवर्तन देखते हैं, जिसे व्यक्त करते हुए कहते हैं कि- "अस्पृश्यता का अभिशाप अब कमतर होने लगा है। मठों और मंदिरों के कपाट अब सभी के लिए खुलने लगे हैं। कोई किसी के साथ खा-पी सकता है। कहीं भी आ-जा सकता है।"[10] लेकिन जाति के एक नए रूप को देखकर भी बड़े चिंतित है क्योंकि कबीर को एहसास होने लगा था कि "कहीं ऐसा तो नहीं यहाँ अपने-अपने जाति समूह को इकट्ठा कर अपने निजी स्वार्थ सिद्ध करने की कोशिश की जा रही है।"[11] सुखद और दु:खद दोनों परिस्थितियाँ कबीर को व्याकुल कर देती है। वास्तव में यह परिस्थितियां हर एक चिंतनशील प्राणी को व्याकुल कर सकती है, क्योंकि हम प्राचीन और मध्यकालीन समय से ही जूझ रहे हैं।

यह आधुनिक भारत का सत्य है। समाज इस कोढ़ से छुटकारा पाना चाहता है, तो राजनेता इस कोढ़ को जीवित रखकर अपनी स्वार्थ सिद्धि का मार्ग जीवित रखना चाहते है। पूरे भारत में इन जाति और धर्म आधारित दलों का जाल सा बिखरा हुआ है। जिसने कबीर और गांधी के सपने को मृतप्राय कर दिया है क्योंकि प्रायः कबीर आजीवन कहते रहे- "हिंदू मूआ राम कहि, मुसलमान ख़ुदाइ। कहै कबीर सो जीवता, जो दुहुँ के निकटि न जाई।"[12] फिर भी इनके मार्ग को छोड़कर अलग ही रास्ता चुना। इस आधुनिक भारत में आधुनिक क्या है? लोकतंत्र में लोक कहाँ है? जैसे विचारणीय प्रश्न खड़े करते हैं और सही कहते हैं कि- "हिन्दुओं और मुसलमानों में तो मेरे ज़माने में भी मतभेद थे। कट्टरता थी। दूरियाँ थी। लोग एक-दूसरे से डरे, सहमें भी थे। परन्तु खुलेआम घृणा फैलाने की छूट किसी को नहीं थी।"[13] मध्यकालीन धार्मिक संस्कृति काशी के सापेक्ष आधुनिक काशी को कबीर देख रहे थे तो यह भी देख रहे थे कि भौतिक विकास के सापेक्ष मानव विकास की गति धीमी है एक ओर मध्यकालीन काशी थी और एक यह आधुनिक काशी है जिसमें कबीर को मध्यकालीन जैसा कुछ दिखाई नहीं देता। उसमें पहले जैसे कुछ नहीं है बल्कि अब तो कबीर देखते हैं कि- "पहले वाले बड़े-बड़े फलदायी वृक्षों का नामोनिशान तक नहीं दिखा उन्हें बारहों मास अकूत जल से भरी पोखरिया, फुस की बनी झोपड़ियाँ, छोटे-छोटे फूलों के पौधों का अस्तित्व नदारद था। चौपालों, सरायों के स्थान पर बनी विशालकाय भव्य कॉलोनियाँ।"[14]

प्रकृति के होते विनाश के साथ-साथ तांगे वालों की गरीबी, बिनकारी वालों की भुखमरी, खोमचे वाले इत्यादियों की बदहाली और तंगहाली से कबीर आहत हो रहे थे। फिर भी इस भुखमरी, गरीबी, और भ्रष्टाचार के प्रति लोगों का कोई भी व्यवस्थित विद्रोह उन्हें नहीं दिखाई दे रहा था। केवल और केवल विद्रोह के स्तर पर आक्रोश दिखाई देता है। यह आक्रोश भी चाय वाले की दुकान तक सीमित है। इस वातावरण में भौतिक विकास की भागदौड़ में लुप्त होती मनुष्यता के दर्शन भी पल-पल कबीर करते हैं। इसी क्रम में बार-बार अतीत की ओर लौटते हैं और पाते हैं कि मध्यकालीन काशी के सापेक्ष या मध्यकालीन भारत के सापेक्ष आधुनिक भारत बहुत पिछड़ा है। जिसकी तुलना करते हुए कबीर कहते हैं कि- "गरीब गुरबे तो मेरे जमाने में भी थे। दो जून की रोटियाँ उस समय भी मिलनी मुश्किल थी। कर्ज के बोझ से हमारा भी समाज पीड़ित था। साहूकार कभी पूरा तोलता ही नहीं था। पर मेरे जमाने में इस तरह सरेआम लोगों को गर्दनिआया नहीं जाता था। गुंडई और तमंचे के बल पर कर्ज अदायगी का प्रचलन नहीं था।"[15] इन पीड़ादायी परिस्थितियों ने कबीर को चिंतित कर दिया था इसके संदर्भ में उपन्यासकार ने सटीक टिप्पणी की है कि "नीचे से खोखली और ऊपर से चमकती काशी ने कबीर को हिलाकर रख दिया।"[16]

देवलोक से मृत्युलोक में कबीर का आगमन काल्पनिक है लेकिन मृत्यु लोक के अनुभव यथार्थ से भरे हैं। नित् अनुभवों से कबीर आहत होते हैं। कबीर और रविदास युगीन परिस्थितियों के वश लोकज्ञान से परिचित होने के बाद भी समाज में तथाकथित निम्न जाति के ही रहे इस कुव्यवस्था और आर्थिक विषमता से भरे समाज का परिणाम है कि कबीर की दृष्टि में ये सब- "अमीरों और गरीबों के बीच उभरी खाइयाँ उन्हें एकता के लिए खतरा जान पड़ी।"[17]

इसके प्रति नेता जवाबदेही की जगह अपनी सत्ता की रक्षा के लिए ये साबित करते है कि नेता का कोई दोस्त या शत्रु नहीं होता है। उसकी दोस्ती और शत्रुता क्षणिक और परिस्थितियों के अनुसार रूपांतरित होती रहती है इसलिए कबीर कहते हैं कि- "अभी कल तक जो एक-दूसरे को गाली दे रहे थे, पानी पी-पीकर कोस रहे थे अब वे गल-बहियाँ करने के लिए उतावले हैं। विचार और सिद्धांत का इस देश में कोई मतलब ही नहीं रह गया है।"[18] सत्ता प्राप्ति के सपने से इनको मतलब है अन्य कोई सपना इनके लिए उपदेश भर है। इसलिए अपने सपनों की स्थिति देखकर कह उठते हैं- "मेरे सपनों का भारत अभी कोसों दूर है मुझसे। कब आयेगा? किस रूप में आयेगा? यह तो परमात्मा ही जानता होगा।"[19]

गांधी और कबीर का संवाद तर्कसंगत बनकर उभरा है। गांधी कबीर की आत्मग्लानि को दूर करते हैं। गांधी मानते हैं कि उन्होंने कबीर के सपने को ही आगे बढ़ाने का काम किया है। युगीन परिस्थियाँ विपरीत थीं। इसलिए गांधी कहते हैं कि- "मैं तो यह मानता हूँ कि जो काम मैंने बीसवीं सदी में किया आप इसे सोलहवी सदी में ही शुरू कर चुके थे।"[20] कबीर और गांधी देवलोक में चिंतित है। गांधी अपने सपनों का सत्य कबीर से जानना चाहते हैं। उस सपने को जिसको उन्होंने 'हिंद स्वराज़' में अभिव्यक्त किया था। जिसके संदर्भ में कहा जाता है कि 'हिंद स्वराज' में आधुनिक पश्चिमी संस्कृति के रोमहर्षक कथा तो है ही, साथ में गांधीजी चाहते थे वैसे समाज और उसके समाज के निर्माण हेतु आवश्यक नियमन और संयम भी इस में परिलक्षित है। इस प्रकार के समाज की रचना करने के लिए आवश्यक प्रक्रिया अथवा कम से कम एक रूपरेखा भी यदि प्रस्तुत की जाती है तो किसी न किसी प्रकार का प्रयास हो सकता है।"[21] लेकिन इन्हीं के उत्तराधिकारियों ने इसके लिए कोई प्रयास नहीं किया था। इसलिए कबीर ज्ञाता होने के बावजूद नहीं बताते है क्योंकि वे बोध कर चुके थे कि हम यहाँ भी चिंतित हैं, अपने युग में भी चिंतीत थे और वर्तमान में भी चिंतित हैं इसलिए कि भारतीय जनता भूखी, गरीब, बेरोजगार, नशाखोरी और सूअर जैसी जिंदगी जिने को विवश है, थी और क्या पता कब तक रहेगी? यही गांधी और कबीर के सपनों का सत्य था जबकि कबीर आजीवन "भारतीय सामंती समाज की मूल अवधारणा पर चोट करते थे। जातिवाद, वर्ण व्यवस्था और धार्मिक संस्थान भारतीय सामंतवाद के मूलाधार हैं और जो भारतीय स्वतंत्रता की 50वीं वर्षगांठ पर भी जनता को बांट रहे हैं और उसके दु:ख दर्द को बढ़ा रहे हैं। जाति और धर्म के आधार पर आज भी सत्ता को प्राप्त करने की होड़ हो रही है।"[22] यही सब जब आधुनिक कहे जाने वाले भारत में कबीर देखते हैं तो वे चिंतित हो जाते हैं। इसलिये कबीर ने जिस सत्य का स्वयं बोध किया गांधी कबीर के माध्यम से उसी सत्य का बोध करना चाहते थे। यह लेखक की दृष्टि में अध्यातमचेतस गांधी का योगी कबीर से मिलन था। यहाँ लेखक रामचंद्र शुक्ल की दृष्टि का बोध कराते हुए चलते हैं और विरूद्धों का सामंजस्य करते हैं। यहाँ कबीर और गाँधी के माध्यम से दलित और गांधीवादी धड़ों को एकता के सूत्र में बांधना चाहते हैं। कहाँ तक सफल हुए ये पाठक ही निर्णय कर सकते है।

लेखक उस पार्टी की पोल खोलता है जिसके लिए गांधी एक प्रतीक थे इसलिए उनके सपनों को पीछे छोड़कर नेहरू के सपनों को आगे बढ़ाने पर जोर दे रही थी। उस नेहरू की जिसका आरम्भ से ही गांधी और उनके सपनों से लगाव नहीं था। जिस मतभिन्नता को स्पष्ट करने के लिए नेहरू को पत्र लिखते हुए गांधीजी ने कहा था कि "पहली बात तो लोगों ने उसके बारे में जानना चाहिए। उनको अनजान रखने से स्वराज के कार्य में बाधा आएगी। मैंने कहा है कि 'हिंद स्वराज' में मैंने जिस राज्य पद्धति के विषय में लिखा है उसके बारे में मेरा मत पक्का है। यह केवल कहने के लिए नहीं है। सन् 1909 में मैंने जो लिखा था वह आज मेरे अनुभव के उपरांत सही सिद्ध हुआ है। उसमें विश्वास करने वाला आज अगर मैं अकेला ही हूँ तो भी मुझे जरा भी दु:ख नहीं होगा। क्योंकि मैं जिसे सत्य मानता हूँ उसी का मैं साक्षी बन सकता हूँ। मेरे, सम्मुख अभी 'हिंद स्वराज' नहीं है। मैं आज उसका निरूपण मेरी अपनी भाषा में करूं यही अच्छा है।"[23] लेकिन इस सत्य को छुपाया गया और भारतीय संस्कृति और अध्यात्म की जगह पश्चिम अप-संस्कृति को प्रश्रय दिया जो कि भारतीय विकास को अवरुद्ध कर रही थी। जबकि- "भारतीय संस्कृति में फिर नया यौवन भर देने की क्षमता है और यह नैरंतर्य को बनाए रखते हुए भी, आमूल उथल-पुथल कर सकती है। भारत के निवासियों में, यद्यपि वे कुछ धीमे चलने वाले हैं, फिर भी, यौवन का बल और जीवनी शक्ति है और इसीलिए वे अपनी संस्कृति को बचाए रख सके हैं। उनकी सहजवृत्तियों पर वास्तविकताओं के धक्के की ऐसी प्रतिक्रिया होती है, जिसमें गलती हो ही नहीं सकती।"[24] परन्तु, भारतीय शरीर और विदेशी मस्तिष्क व्यक्तित्व वाले व्यक्ति के सपने को आगे बढ़ाने का कार्य करती है जिसके चलते भारतीय वैश्विक स्थिति में रूकावट आयी थी। जिसका खुलासा पात्र 'ज्ञानी' करता हुआ कहता है कि "सन 1953 में अमेरिकी राष्ट्रपति ने उनसे सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बनने का प्रस्ताव उनके समक्ष रखा था? बताइये! कहा था की नहीं। लेकिन उन्होंने क्या किया? शांति दूत बनने के चक्कर में वह अवसर भी चीन को दे दिया।"[25] इसका परिणाम वर्तमान भारत भुगत रहा है। बार-बार वैश्विक मुद्दों पर अमेरिका या रूस से हाथ मिलाना पड़ता है। चीन भारत विरोधी रुख अपनाता है जिसके कारणस्वरूप सुरक्षा बजट बढ़ाना पड़ता है और रोटी, कपड़ा, मकान, और रोजगार जैसे मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कटौती न चाहकर भी करनी पड़ती है।

गांधी और कबीर की दृष्टि में सत्ताधारी जितना जिम्मेदार है उतना ही इस दुर्दशा का भारतीय नागरिक भी। उसके लिए भी महापुरुषों के सपने केवल आलोचना योग्य थे न कि अनुकरणीय। इसलिए ऐसी मानसिकता पर प्रहार करते हुए गांधी सही कहते हैं कि "दूसरों में दोष ढूंढ़ना और स्वयं अपने कर्त्तव्यों का पालन न करना भी एक तरह का राष्ट्र के साथ छलावा होता है। और ऐसे नागरिक, ऐसा समाज इतिहास की पुस्तकों में बहुत ज्यादा सम्मान नहीं पाता। क्योंकि लोकतांत्रिक व्यवस्था में रहने वाला व्यक्ति जब स्वयं हितों पर अपनी एकजुटता का प्रदर्शन नहीं कर पाता तो किसका दोष?"[26] इसका स्पष्ट उल्लेख करते हुए सही कहा गया है कि दोष किसका था और कौन-कौन

इसमें शामिल है। जिसमें सर्वप्रथम "नयी पीढ़ी में जिम्मेदारी का अभाव, उच्च पदों पर बैठे लोगों का भ्रष्ट आचरण, जनकल्याण के प्रति नेताओं की उदासीनता और दो तरह की शिक्षा व्यवस्था।"[27]

यह उपन्यास कई महत्त्वपूर्ण प्रश्नों को उठाता है। प्रथम प्रश्न कि महापुरुषों के नाम पर द्वारों, पार्कों, मूर्तियों या मत एवं सम्प्रदायों का निर्माण सुखद है? क्या उनके विचारों को जीवित रखने का प्रयास किया गया? जबकि देशविरोधी ताकतों के जीवाणु पीढ़ी दर पीढ़ी जिंदा है, उनके विचार जिंदा है जबकि महापुरुषों के लुप्त। आखिरकार ऐसा क्यों? और यह भी कि क्या गांधी का सपना कबीर के सपने को पूरा किये बिना आगे बढ़ सकता था? या इस सपने में स्थायित्व आ सकता था? लेखक 'हरिजन' शब्द का मंडन गांधी से कराते है तो उसी क्रम में कबीर भी हामी भरते हुए कहते हैं कि- "हाँ बापू! अंगुली उठाने वालों और छीद्रान्वेषण करने वाले की दुनिया में कमी नहीं है। वे हर जगह भरे पड़े है।"[28] क्या यह खंडन तर्कसंगत है? क्या 'हरिजन' दलितों या अनुसूचितों जातियों को सम्मान देता है? क्या हरिजन शब्द के विरोध में जो तर्क दिये जाते है वे असंगत है? इत्यादि प्रश्न उपन्यास में बिखरे पड़े है। निष्कर्षतः कह सकते हैं कि लेखक अपने समकालीन केंद्रीय कांग्रेस सरकार और उत्तर प्रदेश में प्रभावी समाजवादी और बहुजन समाज पार्टी को निशाना बनाते है। लेखक का यही दायित्व होता है कि वह सत्ता को चुनौती दे, इस दायित्वबोध का निर्वाह हुआ है। आद्योपांत भारतीयता इस उपन्यास के केंद्र में रही है और भारतीय चित्ती अध्यात्म को वर्तमान में परिभाषित किया व इन भौतिक समस्याओं का निदान आध्यात्मिकता में खोजा है।

संदर्भ सूची-

1. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. भूमिका
2. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 10
3. राय, हिमाँशु. (2015). कबीर के राजनीतिक विचारों की खोज. फ्रटियर ऑटम अंक अक्टूबर-7 नवंबर. खंड- 48. पृ. सं.-17
4. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृ. सं.- 32
5. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृ. सं.- 32
6. रफीक, राकेश. डॉ. (2013). महात्मा गांधी की शिक्षा दृष्टि : नई तालिम. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्श समिति प्रकाशन. पृ. सं.- 37
7. रफीक, राकेश. डॉ. (2013). महात्मा गांधी की शिक्षा दृष्टि : नई तालिम. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्श समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 53
8. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 33
9. हरिश्चंद्र, भारतेंदु. तीन बुलाए तेरह आवै. कविता कोश
10. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 27
11. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 29
12. कबीर. हिन्दू मुए राँन कहि. भारतकोश

13. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 32
14. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 22
15. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 23
16. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 23
17. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 33
18. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 46
19. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 51
20. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 62
21. काटदरे, इंदुमति. (2007). गांधी को समझे (अनु. धर्मपाल). अहमदाबाद : पुनरुत्थान ट्रस्ट प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 20
22. सिंह, कुँवरपाल. सं. (2008). भक्ति आंदोलन : इतिहास और संस्कृति. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 224
23. काटदरे, इंदुमति. (2007). गांधी को समझे (अनु. धर्मपाल). अहमदाबाद : पुनरुत्थान ट्रस्ट प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 29
24. विराज, एम.ए. अनु. (1960). धर्म और समाज. नई दिल्ली : राजपाल एण्ड सन्स प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 74
25. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 228
26. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 190
27. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 80
28. तिवारी, के. एन. (2020). उत्तर कबीर नंगा फकीर. नई दिल्ली : गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 72

सौरभ
शोधार्थी, हिंदी
दिल्ली विश्वविद्यालय
संपर्क सूत्र : 9910245300
ईमेल पता : sourabhrao2709@gmail.com

बाल मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में हिंदी सिनेमा

शोध सार : यह शोध आलेख हिंदी सिनेमा और बाल मनोविज्ञान के अंतर्संबंध का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। बाल्यावस्था में बच्चे का मानसिक, भावनात्मक तथा सामाजिक विकास तीव्र गति से होता है, इसलिए दृश्य-श्रव्य माध्यमों का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। हिंदी सिनेमा समय-समय पर बच्चों की संवेदनाओं, उनके संघर्षों और उनकी मानसिक अवस्थाओं को विभिन्न रूपों में अभिव्यक्ति देता रहा है। 'तारे ज़मीन पर' तथा छिल्लर पार्टी जैसी फिल्में इस तथ्य को रेखांकित करती हैं कि सिनेमा बच्चों की सोच, संवेदनशीलता और सामाजिक चेतना को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि बाल मनोविज्ञान के अनुरूप सिनेमा बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण और उनके रचनात्मक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

बीज शब्द : बाल मनोविज्ञान, हिंदी सिनेमा, बाल विकास, दृश्य-श्रव्य माध्यम, सामाजिक संवेदनशीलता, बाल चेतना, बाल केंद्रित फिल्में।

आमुख- समकालीन समाज में सिनेमा वह सामाजिक चेतना, सांस्कृतिक मूल्यों और मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बन चुका है। विशेष रूप से बच्चों के संदर्भ में सिनेमा का प्रभाव अधिक गहरा और व्यापक दिखाई देता है, क्योंकि बाल्यावस्था वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति का मन अत्यंत संवेदनशील, जिज्ञासु और ग्रहणशील होता है। इस अवस्था में बच्चे अपने आसपास के वातावरण, अनुभवों और दृश्य माध्यमों से प्राप्त संकेतों के आधार पर अपनी सोच और व्यवहार का निर्माण करते हैं। इसी कारण बाल मनोविज्ञान के अध्ययन में दृश्य माध्यमों की भूमिका को महत्त्वपूर्ण माना जाता है। बाल मनोविज्ञान का संबंध बालक के मानसिक, भावनात्मक और सामाजिक विकास से होता है। इसी क्रम में क्रो एवं क्रो कहते हैं- ''बाल मनोविज्ञान वह विज्ञान है जो बालकों के विकास का अध्ययन गर्भकाल से किशोरावस्था तक करता है।''[1] बच्चे स्वभावतः अनुकरणशील होते हैं और वे जो कुछ देखते-सुनते हैं। उसे अपने व्यवहार और कल्पना में रूपांतरित करने लगते हैं। ऐसे में सिनेमा जैसे प्रभावशाली माध्यम का बच्चों की सोच, संवेदना, कल्पनाशक्ति और मूल्य-बोध पर प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। हिंदी सिनेमा ने समय-समय पर बाल जीवन, उनकी समस्याओं, आकांक्षाओं और मनोभावों को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया है- ''फ़िल्में कला जगत का वह माध्यम है जो समग्र समाज और उसके परिवेश, संस्कृति इत्यादि को गहराई के साथ चित्रित करने के साथ ही संपोषित भी करती है।''[2] इस संदर्भ में ''तारे ज़मीन पर'',

'मकड़ी' तथा 'छिल्लर पार्टी' जैसी फिल्मों में बाल मन की संवेदनाओं और उनकी मनोवैज्ञानिक स्थितियों को प्रभावी ढंग से चित्रित किया गया है। वर्तमान समय में तकनीकी विकास और दृश्य माध्यमों के विस्तार के कारण बच्चों का सिनेमा तथा अन्य दृश्य सामग्री से संपर्क पहले की अपेक्षा अधिक बढ़ गया है। परिणामस्वरूप सिनेमा बच्चों के मानसिक विकास, सामाजिक समझ और कल्पनाशक्ति को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण कारक बन गया है। इस स्थिति में हिंदी सिनेमा को बाल मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में समझना आवश्यक हो जाता है, ताकि यह स्पष्ट किया जा सके कि सिनेमा बच्चों के मन, व्यवहार और व्यक्तित्व निर्माण पर किस प्रकार प्रभाव डालता है। इसी उद्देश्य से प्रस्तुत अध्ययन में हिंदी सिनेमा और बाल मनोविज्ञान के अंतर्संबंध का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

बाल मनोविज्ञान मनोविज्ञान की वह शाखा है जो बालक के मानसिक, भावनात्मक और सामाजिक विकास का अध्ययन करती है। आइजनेक अनुसार- "बाल मनोविज्ञान का संबंध बालक में मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के विकास से है। गर्भकालीन अवस्था, जन्म शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और परिपक्वावस्था तक के बालक की मनोवैज्ञानिक विकास प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है।"[3] बाल्यावस्था मानव जीवन का वह प्रारंभिक चरण है जिसमें व्यक्तित्व, विचारधारा, संवेदनशीलता और व्यवहार के आधार निर्मित होते हैं। इस अवस्था में बालक का मन अत्यंत जिज्ञासु, ग्रहणशील और अनुकरणशील होता है। वह अपने आसपास घटित होने वाली घटनाओं, पारिवारिक वातावरण, सामाजिक संबंधों तथा दृश्य-श्रव्य माध्यमों से प्राप्त अनुभवों के आधार पर अपनी समझ का विकास करता है। इसी कारण बाल्यावस्था को व्यक्तित्व निर्माण की सबसे महत्त्वपूर्ण अवस्था माना जाता है। बाल मनोविज्ञान के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि बच्चों के मानसिक विकास में अनुभव, परिवेश और शिक्षा की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। बालक अपने आसपास के वातावरण से निरंतर सीखता रहता है। परिवार, विद्यालय, मित्र समूह और मनोरंजन के विभिन्न माध्यम उसके विचारों और व्यवहार को प्रभावित करते हैं।

बालक में कल्पनाशक्ति, जिज्ञासा और अनुकरण की प्रवृत्ति अत्यंत प्रबल होती है, जिसके कारण वह जो कुछ देखता और सुनता है, उसे अपने अनुभवों का हिस्सा बना लेता है। इसी संदर्भ में दृश्य माध्यमों का प्रभाव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सिनेमा, टेलीविजन और अन्य दृश्य-श्रव्य साधन बच्चों के सामने जीवन के अनेक रूपों को प्रस्तुत करते हैं। इन माध्यमों से बालक नई परिस्थितियों, विचारों और भावनाओं से परिचित होता है। इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि इन माध्यमों में प्रस्तुत सामग्री बाल मनोविज्ञान के अनुरूप हो, जिससे बच्चों के भीतर सकारात्मक सोच, संवेदनशीलता और रचनात्मकता का विकास हो सके। इस प्रकार बाल मनोविज्ञान उस संपूर्ण प्रक्रिया को समझने का प्रयास है जिसके माध्यम से बालक अपने परिवेश के साथ संवाद स्थापित करते हुए धीरे-धीरे एक सामाजिक और संवेदनशील व्यक्तित्व का निर्माण करता है। इसी संदर्भ में हिंदी सिनेमा जैसे प्रभावशाली माध्यम का बाल मन पर पड़ने वाला प्रभाव अध्ययन का एक महत्त्वपूर्ण विषय बन जाता है- "दरअसल सिनेमा सिर्फ

अभिव्यक्ति नहीं है, वह एक अन्वेषणकारी माध्यम है। वह बहुत कुछ ऐसा भी कहता और करता है, जिसे शब्दों में नहीं कहा जा सकता।"[4]

हिंदी सिनेमा का इतिहास भारतीय समाज और संस्कृति के परिवर्तन से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। प्रारंभिक दौर में सिनेमा मुख्यतः पौराणिक और ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित था, जिनका उद्देश्य मनोरंजन के साथ नैतिक मूल्यों का प्रसार करना था। धीरे-धीरे सामाजिक विषयों को भी सिनेमा में स्थान मिलने लगा। इस परिवर्तन के साथ बच्चों के जीवन, उनकी भावनाओं और उनके अनुभवों को भी फिल्मों में अभिव्यक्ति मिलने लगी। यद्यपि प्रारंभिक समय में बच्चों की उपस्थिति प्रायः सहायक पात्र के रूप में दिखाई देती थी, फिर भी वह पारिवारिक और सामाजिक परिवेश को समझने का एक माध्यम बन जाती थी। स्वतंत्रता के बाद हिंदी सिनेमा में सामाजिक यथार्थ के चित्रण की प्रवृत्ति मजबूत हुई। इस दौर में बाल जीवन और उनकी समस्याओं को अधिक संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया। कुछ फिल्मों में बालक उनकी दृष्टि से समाज और परिवार की जटिलताओं को देखने की कोशिश की गई। उदाहरण के रूप में 'बूट पोलिश' (1954) में गरीबी और बाल श्रम की समस्या को बच्चों के अनुभवों के माध्यम से चित्रित किया गया, वहीं मासूम में पारिवारिक संबंधों के बीच एक बच्चे की मानसिक स्थिति और उसकी संवेदनाओं को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। समकालीन समय में भी हिंदी सिनेमा ने बच्चों के जीवन और उनकी मनोवैज्ञानिक स्थितियों को केंद्र में रखकर अनेक फिल्में प्रस्तुत की हैं। 'तारे ज़मीन पर' में एक ऐसे बच्चे की कहानी दिखाई गई है जो पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था में अपनी कठिनाइयों से जूझता है, जबकि छिल्लर पार्टी में बच्चों की सामूहिक चेतना, मित्रता और सामाजिक संवेदनशीलता को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया गया है। इन फिल्मों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि हिंदी सिनेमा केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं है, बल्कि वह बच्चों के जीवन और उनकी मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं को समझने का भी एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बन सकता है। सिनेमा की विशेषता बताते हुए रही मासूम रज़ा कहते है- "सिनेमा की एक विशेषता यह भी है कि अपने दर्शकों को कभी नज़रअंदाज नहीं कर सकता।"[5] इस प्रकार हिंदी सिनेमा के विकास के साथ बच्चों की उपस्थिति और उनकी संवेदनाओं का चित्रण भी क्रमशः अधिक स्पष्ट और व्यापक होता गया है। यह परिवर्तन इस बात का संकेत देता है कि सिनेमा समाज में बाल जीवन की समस्याओं, आकांक्षाओं और मानसिक विकास को समझने का एक प्रभावशाली माध्यम बन सकता है।

हिंदी सिनेमा भारतीय समाज और संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण दर्पण रहा है। इसके विकास की यात्रा को देखें तो स्पष्ट होता है कि यह समय-समय पर समाज के विभिन्न वर्गों, उनके अनुभवों और उनके जीवन–संघर्षों को अभिव्यक्ति देने वाला एक प्रभावशाली माध्यम बनता गया। हिंदी सिनेमा के प्रारंभिक दौर में मुख्यतः पौराणिक, धार्मिक और ऐतिहासिक कथाओं पर आधारित फिल्मों का निर्माण हुआ। उस समय फिल्मों का उद्देश्य नैतिक मूल्यों का प्रसार करना और दर्शकों का मनोरंजन करना था। इन फिल्मों में बच्चों की उपस्थिति प्रायः सहायक पात्र के रूप

में दिखाई देती थी, जहाँ वे परिवार और समाज की संरचना का एक हिस्सा भर होते थे। फिर भी इन पात्रों के माध्यम से बाल जीवन की सरलता, मासूमियत और संवेदनशीलता की झलक देखने को मिलती थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में व्यापक परिवर्तन दिखाई देने लगे। सामाजिक संरचना, पारिवारिक संबंधों और आर्थिक परिस्थितियों में आए बदलावों का प्रभाव साहित्य और सिनेमा दोनों पर पड़ा। हिंदी सिनेमा ने भी इस परिवर्तन को अपने कथानकों में स्थान देना प्रारंभ किया। इस दौर में फिल्मों में सामाजिक यथार्थ को अधिक महत्त्व मिलने लगा और बच्चों के जीवन, उनकी समस्याओं तथा उनके अनुभवों को भी संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया जाने लगा। कई फिल्मों में बच्चों को कथा के केंद्र में रखकर समाज की जटिलताओं को समझने का प्रयास किया गया। उदाहरण के लिए 'बूट पोलिश' में अनाथ बच्चों के जीवन-संघर्ष, गरीबी और श्रम की कठोर परिस्थितियों को अत्यंत मार्मिक ढंग से चित्रित किया गया है। इस फिल्म में अनाथ भाई-बहन (भोला-बेलू) सामाजिक-आर्थिक रूप से संघर्ष करते हुए दिखाई देते है, पारिवारिक संबंध के रूप में मुँह बोली चाची है जो दोनों के ऊपर अत्याचार करती है और भीख मंगवाती है, इसी क्रम में बेलू भोला से बोलती है कि अपनी माँ क्यों नहीं है? बाल मनोविज्ञान की नज़रिए से अत्यंत मार्मिक संवाद है दोनों के बीच, आर्थिक-सामाजिक अभाव के साथ माँ का न होना मानसिक पीड़ा को दर्शाता है। यह फिल्म इस बात को उजागर करती है कि बालक किस प्रकार सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से प्रभावित होता है और इन परिस्थितियों के बीच अपने अस्तित्व को बचाने का प्रयास करता है। इसी प्रकार मासूम हिंदी सिनेमा की उन महत्त्वपूर्ण फिल्मों में से एक है जिसमें पारिवारिक संबंधों की जटिलता के बीच एक बच्चे की मानसिक स्थिति और भावनात्मक संघर्ष को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इस फिल्म में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि पारिवारिक परिस्थितियाँ किस प्रकार बच्चे के मन पर गहरा प्रभाव डालती हैं और वह अपने परिवेश को किस प्रकार समझने और स्वीकार करने का प्रयास करता है। इस फिल्म में एक डायलॉग है जिसके केंद्र में है, बच्चा राहुल जो मानसिक रूप से भावनात्मक प्रताड़ना झेल रहा है। सूरी, डी. के. से बोलता है कि- "जो बच्चा इतने सालों से अपने बाप के पास पहुँचने की कोशिश कर रहा हो और पहुँच भी जाए लेकिन आप उसे स्वीकार ही ना करें और अलग रख दे या दूर फेंक दे तो तुसी सोच लो बच्चों के दिल पर क्या गुजरेगी।"[6] इस संवाद से हम बच्चे की मनोस्थिति का अंदाजा लगा सकते हैं। इस प्रकार हिंदी सिनेमा ने समय-समय पर बाल जीवन की विभिन्न स्थितियों और उनकी मनोवैज्ञानिक संवेदनाओं को अभिव्यक्ति देने का प्रयास किया है।

समकालीन दौर में तकनीकी विकास और सामाजिक परिवर्तन के साथ हिंदी सिनेमा की विषयवस्तु और दृष्टि दोनों में व्यापक परिवर्तन दिखाई देता है। इसी संदर्भ में कुंवर पाल सिंह 'सिनेमा और संस्कृति' पुस्तक की भूमिका में लिखते है- "देश के करोड़ों लोगों ने महाभारत के प्रसंग सुने थे लेकिन राही ने महाभारत को घर में पहुँचा दिया द्रौपदी और गंगा के माध्यम से उन्होंने नारी की व्यथा कथा हमारे सामने प्रस्तुत की है, द्रौपदी के माध्यम से नई और उसकी समस्याओं की ओर ध्यान आकर्षित किया है।"[7] वर्तमान समय में बच्चों के जीवन, उनकी समस्याओं

और उनकी मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं को केंद्र में रखकर अनेक महत्त्वपूर्ण फिल्में बनाई गई हैं। उदाहरण के रूप में ''तारे ज़मीन पर'' फिल्म में एक ऐसे बच्चे की कहानी प्रस्तुत की गई है जो पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था की कठोरता के बीच अपनी विशिष्ट क्षमताओं को पहचानने के लिए संघर्ष करता है।

यह फिल्म बाल मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसमें यह दिखाया गया है कि प्रत्येक बच्चे की बौद्धिक क्षमता और सीखने की प्रक्रिया अलग-अलग होती है, जिसे समझना और स्वीकार करना आवश्यक है। इसी प्रकार छिल्लर पार्टी में बच्चों की सामूहिक चेतना, मित्रता और सामाजिक संवेदनशीलता को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है, जहाँ बच्चे अपने स्तर पर अन्याय के विरुद्ध खड़े होते दिखाई देते हैं। इन उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिंदी सिनेमा के विकास के साथ बच्चों की उपस्थिति और उनकी मनोवैज्ञानिक स्थितियों का चित्रण भी अधिक गंभीर और व्यापक होता गया है। अब सिनेमा में बाल जीवन को एक ऐसे संवेदनशील विषय के रूप में समझा जाता है जो समाज की संरचना, पारिवारिक संबंधों और शैक्षिक व्यवस्था से गहराई से जुड़ा हुआ है। इस प्रकार हिंदी सिनेमा बच्चों के अनुभवों, उनकी भावनाओं और उनके मानसिक विकास को समझने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरता है। सिनेमा एक ऐसा दृश्य-श्रव्य माध्यम है जिसका प्रभाव व्यक्ति के मन और व्यवहार पर गहराई से पड़ता है। बाल्यावस्था में यह प्रभाव और भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि इस अवस्था में बच्चे का मन अत्यंत संवेदनशील, जिज्ञासु और अनुकरणशील होता है। बालक अपने आसपास के वातावरण से निरंतर सीखता रहता है और जो कुछ वह देखता-सुनता है, उसे अपने अनुभव और व्यवहार का हिस्सा बना लेता है। इसी कारण सिनेमा बच्चों की सोच, कल्पनाशक्ति, भावनात्मक संवेदनशीलता और सामाजिक समझ के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

हिंदी सिनेमा में प्रस्तुत कथानक, पात्र और घटनाएँ बच्चों के मन पर प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष दोनों प्रकार से प्रभाव डालती हैं। जब बच्चे फिल्मों में किसी पात्र को साहस, संवेदनशीलता, मित्रता अथवा संघर्ष करते हुए देखते हैं, तो वे उन गुणों को अपने जीवन में अपनाने की कोशिश करते हैं। दूसरी ओर यदि फिल्मों में हिंसा, आक्रामकता अथवा असंवेदनशील व्यवहार को अधिक महत्त्व दिया जाता है, तो उसका प्रभाव भी बच्चों के मन पर पड़ सकता है। इसलिए सिनेमा की विषयवस्तु और उसकी प्रस्तुति बाल मनोविज्ञान के अनुरूप होना आवश्यक है। हिंदी सिनेमा में कई ऐसी फिल्में भी निर्मित हुई हैं जिनमें बच्चों की मानसिक स्थितियों और उनकी भावनात्मक जटिलताओं को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ चित्रित किया गया है। उदाहरण के रूप में ''तारे ज़मीन पर'' फिल्म में एक ऐसे बालक की मनोवैज्ञानिक स्थिति को प्रस्तुत किया गया है जो पारंपरिक शिक्षा प्रणाली में अपनी कठिनाइयों के कारण उपेक्षा और अवहेलना का अनुभव करता है। यह फिल्म इस बात को रेखांकित करती है कि प्रत्येक बच्चे की सीखने की क्षमता और मानसिक संरचना अलग होती है, इसलिए शिक्षा और पारिवारिक व्यवहार में संवेदनशील दृष्टि की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार 'स्टेनली का डब्बा' फिल्म में एक बच्चे के आत्मसम्मान, मित्रता और मानवीय

संबंधों को अत्यंत सरल तथा प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ फिल्मों में बच्चों की सामूहिक चेतना और सामाजिक सरोकारों को भी प्रमुखता दी गई है। उदाहरण के रूप में छिल्लर पार्टी में बच्चों के समूह को सामाजिक अन्याय के विरुद्ध खड़े होते हुए दिखाया गया है। फिल्म यह संकेत देती है कि बच्चों के भीतर भी सामाजिक संवेदनशीलता और न्यायबोध की भावना मौजूद होती है, जिसे उचित दिशा और प्रेरणा मिलने पर वह सकारात्मक रूप में व्यक्त कर सकते हैं।

इस प्रकार हिंदी सिनेमा बच्चों के मनोवैज्ञानिक विकास को प्रभावित करने वाला एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। यह बच्चों के भीतर कल्पनाशक्ति, संवेदनशीलता, साहस और सामाजिक चेतना का विकास कर सकता है, यदि उसकी विषयवस्तु और प्रस्तुति बाल मनोविज्ञान के अनुरूप हो। इसलिए यह आवश्यक है कि सिनेमा के निर्माण में बच्चों की मानसिक अवस्था, उनकी जिज्ञासा और उनकी संवेदनशीलता को ध्यान में रखते हुए ऐसी सामग्री प्रस्तुत की जाए जो उनके व्यक्तित्व के समग्र विकास में सहायक सिद्ध हो सके। हिंदी सिनेमा और बाल मनोविज्ञान के संबंध को इसके भीतर निहित संभावनाओं और चुनौतियों को पहचानना आवश्यक है। सिनेमा बच्चों के लिए मनोरंजन का एक सशक्त माध्यम है, परन्तु इसके माध्यम से शिक्षा, संवेदनशीलता और सामाजिक चेतना का विकास भी किया जा सकता है। यदि सिनेमा में प्रस्तुत कथानक और पात्र बच्चों की मानसिक अवस्था, उनकी जिज्ञासा तथा उनकी भावनात्मक आवश्यकताओं के अनुरूप हों, तो यह माध्यम बाल विकास की प्रक्रिया में अत्यंत सहायक सिद्ध हो सकता है। हिंदी सिनेमा में समय-समय पर ऐसी फिल्में निर्मित हुई हैं जिनमें बच्चों के जीवन, उनकी समस्याओं और उनकी मनोवैज्ञानिक स्थितियों को गंभीरता के साथ प्रस्तुत किया गया है। इन फिल्मों के माध्यम से यह स्पष्ट होता है कि सिनेमा बच्चों के भीतर कल्पनाशक्ति, रचनात्मकता और संवेदनशीलता के विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। जब बच्चे किसी फिल्म में संघर्ष, साहस, मित्रता और सहयोग जैसे मूल्यों को देखते हैं, तो वे इन मूल्यों को अपने जीवन में भी अपनाने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं। इस प्रकार सिनेमा बच्चों के भीतर नैतिक चेतना और सामाजिक जिम्मेदारी की भावना को विकसित करने में सहायक हो सकता है। इसके साथ ही यह भी ध्यान देने योग्य है कि सिनेमा का प्रभाव हमेशा सकारात्मक ही हो, यह आवश्यक नहीं है।

समकालीन समय में मनोरंजन के नाम पर कई फिल्मों में हिंसा, आक्रामकता और उपभोगवादी प्रवृत्तियों को भी प्रमुखता दी जाती है- "जैसे यथार्थ को नियमित और नियंत्रित करने में प्रभुत्वशाली वर्ग सफल होते है, उसी तरह वे सिनेमा जैसे जन माध्यम को भी प्रभावित करने की कोशिश करते है।"[8] यदि बच्चे बिना किसी मार्गदर्शन के ऐसी सामग्री को देखते हैं, तो इसका प्रभाव उनके व्यवहार और सोच पर नकारात्मक रूप में भी पड़ सकता है। बाल मन अत्यंत संवेदनशील होता है और वह दृश्य माध्यमों के प्रभाव को शीघ्र ग्रहण कर लेता है। इसलिए यह आवश्यक है कि बच्चों के लिए निर्मित या उनके द्वारा देखी जाने वाली फिल्मों की विषयवस्तु के प्रति समाज, परिवार और शिक्षा व्यवस्था सभी सजग रहें। दूसरी ओर हिंदी सिनेमा के सामने यह चुनौती भी है कि वह बच्चों के जीवन और

उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को केंद्र में रखकर अधिक गंभीर और रचनात्मक फिल्मों का निर्माण करे। अभी भी बच्चों को केंद्र में रखकर बनने वाली फिल्मों की संख्या अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है। जबकि भारतीय समाज में बच्चों की बड़ी संख्या होने के बावजूद उनके अनुभवों और उनकी समस्याओं को सिनेमा में पर्याप्त स्थान नहीं मिल पाता। यदि हिंदी सिनेमा बाल जीवन की विविधताओं, उनकी जिज्ञासाओं और उनके सामाजिक परिवेश को अधिक गहराई से समझकर प्रस्तुत करे, तो यह बाल मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

इस प्रकार हिंदी सिनेमा के भीतर बच्चों के मानसिक और भावनात्मक विकास को दिशा देने की व्यापक संभावनाएँ मौजूद हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सिनेमा बाल जीवन की संवेदनाओं, उनके अनुभवों और उनकी जिज्ञासाओं को समझते हुए एक ऐसे माध्यम के रूप में विकसित हो जो बच्चों के समग्र व्यक्तित्व निर्माण में सकारात्मक योगदान दे सके। वर्तमान समय को तकनीकी और संचार माध्यमों के तीव्र विस्तार का युग कहा जा सकता है। डिजिटल प्लेटफॉर्म, टेलीविजन और इंटरनेट के बढ़ते प्रभाव के कारण बच्चों का दृश्य-श्रव्य माध्यमों से संपर्क पहले की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़ गया है। ऐसे समय में सिनेमा का प्रभाव घर-घर तक पहुँच चुका है। इस परिवर्तन ने बच्चों के मनोरंजन, उनकी कल्पनाशक्ति और उनकी सोच को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। समकालीन समाज में वे फिल्मों और अन्य दृश्य माध्यमों के माध्यम से भी अनेक प्रकार की सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक धारणाओं से परिचित होते हैं।

समकालीन हिंदी सिनेमा में बच्चों की उपस्थिति और उनके अनुभवों को लेकर नई दृष्टि विकसित होती दिखाई देती है। अब फिल्मों में बाल जीवन को उनकी समस्याओं, उनके संघर्षों और उनके मानसिक संसार को समझने का प्रयास भी किया जाता है। उदाहरण के रूप में 'तारे ज़मीन पर' में शिक्षा व्यवस्था और बाल मनोविज्ञान के संबंध को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह फिल्म यह संकेत देती है कि यदि बच्चे की मानसिक संरचना और उसकी सीखने की प्रक्रिया को समझे बिना उस पर पारंपरिक शिक्षा पद्धति को थोप दिया जाए, तो उसका परिणाम बच्चे के आत्मविश्वास और व्यक्तित्व पर नकारात्मक प्रभाव के रूप में सामने आ सकता है। इसी प्रकार 'छिल्लर पार्टी' जैसी फिल्मों में बच्चों की सामूहिक चेतना, उनकी मित्रता और उनके सामाजिक सरोकारों को रेखांकित किया गया है।

यह फिल्म इस तथ्य को सामने लाती है कि बच्चों के भीतर सामाजिक संवेदनशीलता और न्यायबोध की भावना भी विकसित हो सकती है। इस प्रकार की फिल्में यह बताती हैं कि बच्चों को केंद्र में रखकर भी गंभीर और सार्थक सिनेमा निर्मित किया जा सकता है। फिर भी समकालीन हिंदी सिनेमा के सामने कई चुनौतियाँ भी मौजूद हैं। बाज़ारवादी प्रवृत्तियों के बढ़ते प्रभाव के कारण फिल्मों में मनोरंजन और व्यावसायिक सफलता को अधिक महत्त्व दिया जाने लगा है। इस कारण बच्चों के जीवन, उनकी समस्याओं और उनकी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को

केंद्र में रखकर बनने वाली फिल्मों की संख्या अपेक्षाकृत कम दिखाई देती है। दूसरी ओर बच्चों के सामने प्रस्तुत होने वाली कई फिल्मों में हिंसा, आक्रामकता और उपभोगवादी जीवन शैली को भी प्रमुखता दी जाती है, जिसका प्रभाव उनके मन और व्यवहार पर पड़ सकता है। इस प्रकार समकालीन परिप्रेक्ष्य में हिंदी सिनेमा और बाल मनोविज्ञान का संबंध अत्यंत महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह आवश्यक है कि सिनेमा बच्चों की मानसिक अवस्था, उनकी जिज्ञासाओं और उनकी संवेदनशीलता को ध्यान में रखते हुए ऐसी सामग्री प्रस्तुत करे जो उनके भीतर सकारात्मक सोच, मानवीय संवेदना और रचनात्मक दृष्टि का विकास कर सके। यदि हिंदी सिनेमा इस दिशा में गंभीर प्रयास करे, तो वह बाल मनोविज्ञान की दृष्टि से समाज के भविष्य के निर्माण में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि हिंदी सिनेमा और बाल मनोविज्ञान के बीच गहरा संबंध विद्यमान है। बाल्यावस्था मानव जीवन का वह महत्त्वपूर्ण चरण है जिसमें व्यक्तित्व, संवेदनशीलता और सामाजिक चेतना के आधार निर्मित होते हैं। इस अवस्था में बच्चे का मन अत्यंत जिज्ञासु, ग्रहणशील और अनुकरणशील होता है, इसलिए वह अपने आसपास के वातावरण और दृश्य-श्रव्य माध्यमों से गहरा प्रभाव ग्रहण करता है। सिनेमा भी ऐसा ही एक प्रभावशाली माध्यम है जो बच्चों के विचार, व्यवहार और कल्पनाशक्ति को प्रभावित करने की क्षमता रखता है। हिंदी सिनेमा के विकासक्रम को देखने से यह स्पष्ट होता है कि समय–समय पर बच्चों के जीवन, उनकी समस्याओं और उनकी मानसिक स्थितियों को फिल्मों में अभिव्यक्ति मिली है। कुछ फिल्मों ने बाल जीवन की जटिलताओं, उनकी भावनात्मक संवेदनाओं और उनके संघर्षों को अत्यंत संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है। उदाहरण के रूप में ''तारे ज़मीन पर'' ने शिक्षा व्यवस्था और बाल मनोविज्ञान के संबंध को उजागर किया, वहीं 'छिल्लर पार्टी' में बच्चों की सामूहिक चेतना और सामाजिक संवेदनशीलता को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रकार की फिल्में यह संकेत देती हैं कि सिनेमा बच्चों के मानसिक और भावनात्मक विकास को सकारात्मक दिशा प्रदान करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि सिनेमा की विषयवस्तु और उसकी प्रस्तुति बाल मनोविज्ञान के अनुरूप हो। यदि फिल्मों में हिंसा, आक्रामकता अथवा असंवेदनशील व्यवहार को अधिक महत्त्व दिया जाएगा, तो उसका प्रभाव बच्चों के मन और व्यवहार पर नकारात्मक रूप में भी पड़ सकता है। इसलिए सिनेमा निर्माताओं, अभिभावकों और शिक्षकों सभी की यह जिम्मेदारी बनती है कि बच्चों के सामने प्रस्तुत होने वाली सामग्री के प्रति सजग रहें। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि बाल मनोविज्ञान को समझने और बच्चों के मानसिक विकास को दिशा देने वाला एक महत्त्वपूर्ण माध्यम भी बन सकता है। यदि सिनेमा बच्चों की संवेदनाओं, उनकी जिज्ञासाओं और उनके अनुभवों को गंभीरता के साथ प्रस्तुत करे, तो वह बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण, सामाजिक चेतना और रचनात्मक दृष्टि के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है।

इसी दृष्टि से हिंदी सिनेमा और बाल मनोविज्ञान के अंतर्संबंध का अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक और उपयोगी सिद्ध होता है।

संदर्भ सूची-

1. श्रीवास्तव, डॉ. डी. एन. (2005). बाल मनोविज्ञान बाल विकास. आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर. पृष्ठ संख्या- 6
2. पुनिया, तेजस. (अंक- 56 दिसंबर, 2024). सिनेमा में बाल मनोविज्ञान. अपनी माटी पत्रिका
3. श्रीवास्तव, डी. एन. डॉ. (2005). बाल मनोविज्ञान बाल विकास. आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर. पृष्ठ संख्या-
4. पांडेय, आलोक. (दिसंबर- 2012). समाज में सिनेमा, मीडिया विमर्श (त्रैमासिक पत्रिका). सिनेमा विशेषांक
5. रज़ा, मासूम. राही. (2009). सिनेमा और संस्कृति. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 16
6. शेखर कपूर निर्देशक. (1983). मासूम फिल्म.
7. रज़ा, मासूम. राही. (2009). सिनेमा और संस्कृति. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 13
8. पारख, जवरीमल्ल. (2019). लोकप्रिय सिनेमा और सामाजिक यथार्थ. नई दिल्ली: अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रिब्यूटर्स. पृष्ठ संख्या- 40

सीताराम गुप्ता
ए.डी. 106 सी. पीतमपुरा
दिल्ली - 110034
संपर्क सूत्र: 9555622323
ईमेल पता : srgupta54@yahoo.co.in

सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ:

विचारों के आदान-प्रदान अथवा भाषा के मुख्यतः दो रूप मिलते हैं - मौखिक व लिखित। एक समय था जब भाषा का लिखित रूप था ही नहीं अतः उसके प्रयोग का प्रश्न ही नहीं उठता था लेकिन आज भाषा के मौखिक व लिखित दोनों ही रूपों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज सभी महत्त्वपूर्ण बातों को लिखित रूप में अथवा दस्तावेज़ों की सूरत में रखना अनिवार्य हो गया है। ज्ञान-विज्ञान संबंधी जानकारी हो अथवा साहित्य सभी लिखित रूप में उपलब्ध है। आजकल तो अधिकांश चीज़ें लिखित रूप में ही नहीं डिजिटल रूप में भी उपलब्ध हैं। वर्तमान में इसकी उपयोगिता से इंकार नहीं किया जा सकता लेकिन लिखित व डिजिटल रूप के बावजूद भाषा के मौखिक रूप की उपेक्षा संभव नहीं। रोज़मर्रा के जीवन में तो हम पूरी तरह से भाषा के मौखिक रूप पर ही निर्भर रहते हैं। संप्रेषण के लिए दैनिक जीवन के अतिरिक्त अन्यत्र भी आवश्यकतानुसार मौखिक अभिव्यक्ति का उपयोग अनिवार्य है अतः किसी भी स्थिति में इसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए।

वेद दुनिया के सबसे प्राचीन ग्रंथ हैं। वेदों को पहले लिखा नहीं जाता था अपितु गुरु अपने शिष्यों को सुनाकर ही इन्हें याद करवा देते थे। ये परंपरा अनेक वर्षों तक चलती रही। सुनकर याद करने और बाद में दूसरों को याद करवाने की परंपरा के कारण ही वेदों को श्रुति कहा गया है। बहुत समय तक ज्ञान का प्रचार-प्रसार इसी श्रुत अथवा वाचिक परंपरा द्वारा होता रहा। लोग किसी भी पुस्तक को याद कर लेते थे और दूसरों को याद करवा देते थे। बाद में वे और लोगों को याद करवा देते थे। इसी प्रकार से ज्ञान एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक संप्रेषित होता रहा। जिस श्रुत अथवा वाचिक परंपरा द्वारा ज्ञान का प्रचार-प्रसार होता रहा वो आज तक किसी न किसी रूप में विद्यमान अथवा प्रचलित है। आज भी अनेक व्यक्ति मिल जाएँगे जिन्हें बड़े-बड़े ग्रंथ कंठस्थ हैं। पारंपरिक शिक्षा पद्धति अथवा गुरुकुलों में आज भी इस पर विशेष रूप से बल दिया जाता है। आधुनिकता की चकाचौंध में इसे पुरातन पद्धति कहकर इसकी नितांत उपेक्षा नहीं की जा सकती।

मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय की सायंकालीन कक्षाओं की एक घटना याद आ रही है। डॉ0 रमानाथ त्रिपाठी जी ने जैसे ही कक्षा में प्रवेश किया बिजली चली गई। उस समय मोबाइल वगैरा तो होते नहीं थे अतः चारों ओर

गहन अंधकार व्याप्त हो गया। उस गहन अंधकार में ही त्रिपाठी जी ने पूछा, "पिछली कक्षा में कहाँ तक किया था?" पिछली कक्षा में कहाँ तक हो गया था ये बतलाने पर उन्होंने बिना रौशनी व बिना पुस्तक के आगे पढ़ाना प्रारंभ कर दिया। कारण स्पष्ट है और वो यह कि उन्हें सब कुछ कंठस्थ था। आज ऐसे अध्यापक अथवा प्राध्यापक कम ही मिलते हैं जिन्हें बहुत कुछ कंठस्थ हो। एक समय था जब ज्ञान-विज्ञान अथवा अन्य उपयोगी जानकारी व साहित्य को कंठस्थ करने पर बल दिया जाता था। किसी चीज़ को कंठस्थ करने अथवा लंबे समय तक याद रखने कि लिए उसे बार-बार पढ़ना अथवा रटना तक पड़ता है। आजकल किसी चीज़ को कंठस्थ करने या रटने के बजाय उसे समझना अधिक उपयोगी माना जाता है लेकिन इससे इस पारंपरिक पद्धति का महत्त्व एकदम कम नहीं हो जाता। कंठस्थ करने अथवा रटने का अपना महत्त्व है। जो चीज़ हमें कंठस्थ हो जाती है उसे न केवल दीर्घावधि तक याद रखना सरल हो जाता है अपितु उसे अच्छी प्रकार से समझना भी संभव हो जाता है।

यदि याद करने अथवा कंठस्थ करने का महत्त्व नहीं होता तो लोग अपने बच्चों को क्यों कविताएँ वग़ैरा कंठस्थ करवाते और उनसे सुन-सुनकर प्रसन्न होते? वास्तविकता ये है कि कई क्षेत्रों में आज भी इसका उतना ही महत्त्व है जितना पहले था। आज ज्ञान-विज्ञान के प्रचार-प्रसार के अनेक साधन उपलब्ध हैं। छपी पुस्तकों के साथ-साथ इंटरनेट ने इस क्षेत्र में क्रांति ला दी है लेकिन याद करने का अब भी कोई विकल्प नहीं है। यदि किसी अवसर पर कोई उपयुक्त शेर अथवा किसी कविता की कुछ पंक्तियाँ सुनानी हों तो हम उन्हें खोजने के लिए किसी पुस्तकालय अथवा इंटरनेट की शरण में नहीं जा सकते। ज्ञान अथवा जानकारी का उचित प्रभाव भी तभी अधिक पड़ता है जब वो हमें कंठस्थ हो। मैंने अनुभव किया है कि जो चीजें मुझे अच्छी तरह से याद हैं उन्हें अपेक्षाकृत सरलतापूर्वक न केवल दूसरों को समझा सकता हूँ अपितु याद भी करवा सकता हूँ। ये कार्य कहीं भी सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। किसी चीज को कंठस्थ करना वैसे भी लाभदायक होता है। किसी चीज़ को कंठस्थ करने अथवा कंठस्थ चीज़ को दूसरों को सुनाते समय हमारी एकाग्रता का विकास होता है। जो चीज़ हमें याद है उसे कहीं भी किसी को भी बतलाया जा सकता है क्योंकि ऐसे में उसके लिए विशेष तैयारी की जरूरत नहीं पड़ती। कहा गया है-

पुस्तकेषु च या विद्या परहस्तेषु यद् धनम्,

उत्पन्नेषु च कार्येषु न सा विद्या न तद् धनम्।

अर्थात् पुस्तकों में रखी विद्या और दूसरे के हाथ में गया धन ये दोनों ही समय पर काम नहीं आ पाते अतः न वह विद्या है और न वह धन है। जिस प्रकार से हम अपनी गाँठ में अथवा पास होने पर ही धन का आवश्यकतानुसार तत्क्षण उपयोग कर सकते हैं उसी प्रकार से कंठस्थ विद्या का भी अपना विशेष महत्त्व है। इसका ये अर्थ कदपि नहीं

कि आधुनिक संसाधनों का कोई महत्त्व नहीं है लेकिन इन दोनों में सही संतुलन बनाए रखना अनिवार्य है। हम प्रायः साधन को साध्य मान लेने की भूल कर बैठते हैं। भाषा भी अभिव्यक्ति का साधन है साध्य नहीं।

हमारे जीवन में अधिगम अथवा सीखने का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान होता है लेकिन इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण होता है कि हम क्या सीखते हैं अथवा हमने जो सीखा है जीवन में उसकी क्या उपयोगिता है? जिस सीखने की कोई उपयोगिता न हो उसे सीखना व्यर्थ है और जो सीखा हुआ समय पर काम न आए ऐसा सीखना भी कोई महत्त्व नहीं रखता। क्या सीखें और सीखना कैसे उपयोगी बने इस दोनों बातों पर ही विचार करना अति महत्त्वपूर्ण है। रामचरितमानस में अरण्यकाण्ड में एक स्थान पर गोस्वामी तुलसीदास लिखते हैं - **सास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिअ। भूप सुसेवित बस नहिं लेखिअ।** जिन शास्त्रों का हमने भली-भांति चिंतन-मनन किया है उन्हें बार-बार देखते रहना चाहिए व अच्छी प्रकार से सेवा करने पर भी राजा को वश में नहीं समझना चाहिए। किसी भी स्थिति पर हमारा पूर्ण अधिकार तभी संभव है जब उससे हमारा अद्वैत संबंध स्थापित हो जाए। कहने का तात्पर्य यही है कि चाहे संबंध हों अथवा ज्ञान-विज्ञान का क्षेत्र उनसे हमारा निरंतर संपर्क बना रहना चाहिए।

जो शास्त्र अथवा अच्छी बातें हमें याद हो गई हैं उनकी भी पुनरावृत्ति होती रहनी चाहिए। गोस्वामी तुलसीदास ने ऐसा क्यों कहा? जो शास्त्र हम अच्छी प्रकार से पढ़ चुके हैं उनको बार-बार पढ़ने अथवा दोहराने की क्या आवश्यकता है? इस बात का सबसे सरल उत्तर तो यही होगा कि यदि हम पूर्व में पठित किसी भी सामग्री अथवा शास्त्रों को नहीं दोहराएँगे तो उनके विस्मृत हो जाने की प्रबल संभावना बनी रहती है। यदि हम किसी प्रकार का ज्ञान अथवा विद्या प्राप्त करते हैं तो उसका उपयोग तभी संभव है जब वो हमें याद भी रहे। किसी उपयोगी से उपयोगी विद्या को प्राप्त करने के बाद अभ्यास अथवा पुनरावृत्ति के अभाव में उसे भूल जाना समय व संसाधनों का दुरुपयोग ही कहा जाएगा। इसका ये अर्थ कदपि नहीं कि आधुनिक संसाधनों का कोई महत्त्व नहीं है लेकिन इन दोनों में सही संतुलन बनाए रखना अनिवार्य है। कई भाषाओं को सीखने के लिए मैंने स्वयं आधुनिक श्रव्य-दृष्य सामग्री का भरपूर इस्तेमाल किया है लेकिन वस्तविकता ये है कि इन सब चीज़ों का इस्तेमाल भी वास्तव में चीज़ों को याद रखने के लिए ही किया जाता है। शाब्दिक ज्ञान अथवा अन्य चीज़ों को लंबे समय तक याद रखने और दूसरों को अच्छी तरह से सिखाने-समझाने के लिए उन्हें याद कर लेना एक अच्छा तरीक़ा है। जब चीज़ें याद हो जाती हैं और उन्हें दोहराया भी जाता है तो वे कभी नहीं भूलतीं। हम बचपन में जो कविताएँ इत्यादि याद करते हैं वे हमें जीवनभर याद रहती हैं। इसका प्रमुख कारण यही है कि हमने न केवल उन्हें याद किया होता है अपितु हम उन्हें दोहराते भी रहते हैं। जहाँ पुनरावृत्ति बंद हुई चीजें स्मृति से भी ओझल होने लगती हैं। पुनरावृत्ति के अभाव में अथवा व्यवहार में न आने के कारण मेरी सीखी हुई कई भाषाएँ विस्मृति के कगार पर पहुँच चुकी हैं लेकिन उन भाषाओं की कविताएँ, गीत व कुछ अन्य चीज़ें आज भी काफ़ी हद तक याद हैं।

कई व्यक्ति जीवन में पर्याप्त स्वाध्याय करते हैं तो क्या जितना भी स्वाध्याय किया गया है, पढा-लिखा अथवा चिंतन किया गया है उसे पूरा का पूरा याद रखना अपेक्षित है? यदि हम बहुत अधिक बातों को याद रखेंगे तो क्या इससे मानसिक उद्विग्नता नहीं बढ़ जाएगी? इससे अन्य समस्याएँ उत्पन्न नहीं हो जाएँगी? यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना अनिवार्य है और वो ये कि हमारी स्मृति की क्षमता की कोई सीमा नहीं होती। हम सबमें सीखने व याद रखने की अपरिमित क्षमता होती है। अधिक बातें सीखने अथवा याद रखने से हमारे मस्तिष्क पर कोई बुरा प्रभाव पड़ने जैसी कोई स्थिति नहीं होती। लेकिन क्या अपेक्षाकृत कम महत्त्वपूर्ण अथवा अव्यावहारिक बातों को भूल जाना उचित नहीं होगा? हम जितना पढ़ते हैं अथवा जितना चिंतन करते हैं वो सभी अत्यंत उपयोगी हो अथवा हमेशा उपयोग में आए ये संभव ही नहीं। कई बार तो हम जो जानते हैं उसी को सर्वोत्तम अथवा उपयोगी सिद्ध करने का प्रयास करते रहते हैं जिसका कोई लाभ अथवा औचित्य दिखलाई नहीं पड़ता। वैसे भी हर व्यक्ति के लिए हर बात लाभदायक अथवा उपयोगी नहीं हो सकती। हमें अच्छी बातें याद रखनी चाहिए लेकिन मात्र इसलिए शास्त्रों को हमेशा याद रखने का भी विशेष महत्त्व दृष्टिगोचर नहीं होता है।

लेकिन गोस्वामी जी कोई बात अकारण तो नहीं कह सकते। उनकी इस बात से एक बात और स्पष्ट हो जाती है और वो ये कि हम केवल उपयोगी व सार्थक चिंतन ही करें और उसे दोहराते रहें ताकि वो स्थायित्व प्राप्त कर ले। वो हमारे व्यवहार में आकर हमारे जीवन का अंग बन जाए। सुचिंतित शास्त्र से भी यही भावना व्यक्त होती है कि जिसे हमने भली-भाँति गहन चिंतन-मनन के पश्चात चुना है वो ज्ञान अथवा अनुभव बहुत महत्त्वपूर्ण है और उसके दोहराते रहने से भी यही तात्पर्य निकलता है हमने बहुमूल्य समय और संसाधनों के द्वारा अपने जीवन में जो महत्त्वपूर्ण व उपयोगी चिंतन किया है अथवा जो कुशलताएँ प्राप्त की हैं वे व्यर्थ न जाएँ। उनसे हम ही नहीं पूरा समाज व राष्ट्र लाभांवित हो। हमारा चिंतन हमारे जीवन को सही दिशा प्रदान करता रहे। वो किसी भी स्थिति में हमसे छूट न जाए। हमने परिश्रम से जो भी अर्जित किया है वो व्यर्थ न चला जाए। हमारे जीवनभर का परिश्रम उचित समय पर हमारे काम आए।

कुछ व्यक्ति बहुत कुछ पढ़ते-लिखते हैं। वे सदैव जीवनोपयोगी व प्रेरक साहित्य का पठन-पाठन व चिंतन ही करते रहते हैं लेकिन अपने स्वाध्याय अथवा चिंतन को अपने जीवन में उतार नहीं पाते। दुनिया में अच्छी-अच्छी बातों की भी कोई सीमा नहीं। निरंतर नई-नई बातें सीखना अच्छी बात है लेकिन पूर्व में सीखी हुई अच्छी बातों को भूल जाना भी उचित नहीं। इसके लिए पूर्व में सीखी हुई अच्छी बातों को बार-बार दोहराते रहना अनिवार्य प्रतीत होता है। उन्हें बार-बार दोहराने का ये प्रभाव होगा कि उन बातों के लिए हमारे मन का अनुकूलन अथवा कंडीशनिंग हो जाएगी और हम उन बातों को अपने व्यवहार में लाने के लिए स्वाभाविक रूप से बाध्य हो जाएँगे। इस प्रकार का सकारात्मक अनुकूलन अथवा कंडीशनिंग हमारे सही व संतुलित विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण व उपयोगी होने

के कारण हमारे लिए अनिवार्य भी है। यदि हम अपनी अर्जित योग्यताओं को अक्षुण्ण रख पाते हैं तो उनके सार्थक उपयोग के अवसर भी अवश्य ही उपलब्ध हो जाएँगे। इसमें संदेह नहीं कि ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जो जो भी अच्छा पढ़ते-लिखते अथवा चिंतन करते हैं उसे दोहराते रहते हैं और इससे वे बातें स्वाभाविक रूप से उनके आचरण में आ जाती हैं लेकिन जिन व्यक्तियों को अच्छी बातों की जानकारी ही नहीं होती या जिन्हें अच्छी बातें कंठस्थ नहीं होतीं वे कैसे अपने आचरण अथवा व्यवहार को उत्तम बनाएँ? ऐसे व्यक्तियों को भी अच्छी बातों को अपने सामने रखने का प्रयास करना चाहिए जिससे वे उनके जीवन को सकारात्मकता प्रदान कर उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली व उनके आचरण को सात्त्विक बना सकें और इसके लिए शास्त्रों की अच्छी बातों को बार-बार पढ़ने अथवा उन्हें दोहराते रहने के अतिरिक्त अन्य कोई प्रभावशाली उपाय दिखलाई नहीं पड़ता। हम प्रायः देखते हैं कि एक निश्चित अंतराल पर सामूहिक रूप से धर्मग्रंथों के अखण्ड पाठ होते रहते हैं। सेवाकाल के दौरान कर्मचारियों के लिए सेमिनार अथवा अन्य प्रशिक्षण कार्यक्रम आयोजित करने का भी यही प्रमुख उद्देश्य होता है। उद्देश्य यही होता है कि बार-बार सुनने से उनकी अच्छी बातें हमें याद होकर हमारे आचरण अथवा व्यवहार का अंग बन जाएँ। जब यही कार्य निहित स्वार्थों से प्रेरित होकर किया जाता है तो वह हमारे अंदर अंधविश्वास भी उत्पन्न कर सकता है अतः हमें ज्ञान की सकारात्मकता पर अवश्य ध्यान देना चाहिए।

कई व्यक्ति बातचीत अथवा लेखन में कविता, शायरी अथवा लोकोक्तियों का भरपूर इस्तेमाल करते हैं। ये सब अभ्यास के कारण होता है। शेरो-शायरी हो अथवा लोकोक्तियाँ व मुहावरे हम जब तक उनका प्रयोग करते रहते हैं वे हमें याद रहते हैं। हम जैसे ही उनका अभ्यास अथवा प्रयोग करना छोड़ देते हैं अथवा कम कर देते हैं वे विस्मृति के गर्त में चले जाते हैं। एक अच्छा खिलाड़ी चाहे उसे किसी स्पर्धा में भाग लेना हो अथवा नहीं कभी अभ्यास करना नहीं छोड़ता। वो निरंतर अभ्यास करता रहता है। ये निरंतर अभ्यास ही उसकी जीत अथवा सफलता का कारण बनता है। सबसे बड़ी बात तो ये है कि उसके निरंतर अभ्यास करने के मूल में भी एक विचार होता है और वो विचार है मुझे जीतना है अथवा सफलता प्राप्त करनी है। वो जिस दिन इस विचार को त्याग देगा अभ्यास करना बंद हो जाएगा। साथ ही वह मात्र एक खेल विशेष का ही अभ्यास नहीं करता अपितु स्वयं को स्वस्थ व सक्रिय बनाए रखने के लिए भी अपेक्षित व्यायामादि करता रहता है। इसी प्रकार से जो बातें हमारे लिए उपयोगी अथवा प्रेरक होती हैं उन्हें याद रखना चाहिए और इसका एकमात्र उपाय है उनकी पुनरावृत्ति करते रहना।

मान लीजिए हम मिष्टान्न खाना चाहते हैं लेकिन यदि मिष्टान्न हमारे समक्ष नहीं रखे होंगे तो हम मिष्टान्न नहीं खा सकते। जिस प्रकार से मिष्टान्न अथवा अन्य अपेक्षित उपयोगी भोजन का उपभोग करने के लिए उसका हमारे समक्ष होना अनिवार्य है उसी प्रकार से जीवन की गुणवत्ता को सुधारने अथवा उसे अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए हमने जो भी अच्छा सीखा है अथवा जो स्वाध्याय अथवा चिंतन किया है वो हमारे सम्मुख रहना ही चाहिए।

यदि ऐसा होगा तो देर-सवेर उसका प्रभाव भी अवश्य ही हम पर पड़ेगा। साथ ही आवश्यकता पड़ने पर उसका उपयोग भी संभव हो सकेगा। यदि समय पर किसी चीज का उपयोग न हो पाए तो उसका होना या न होना बराबर है। यदि हमें मिठाइयाँ खानी हैं तो मिठाइयाँ लाकर रखनी होंगी और यह तभी संभव है जब हम याद रखें कि हमें मिठाइयाँ लानी हैं अथवा बनानी हैं। इसके लिए हमें मिठाई शब्द याद रखना होगा और तब याद रखना होगा जब तक उसकी छवि हमारे मन पर अंकित न हो जाए।

घर में हम अनेक प्रकार की वस्तुओं अथवा उपकरणों का प्रयोग करते हैं। वे सालों तक हमारे काम आते रहते हैं लेकिन यदि किसी कारण से किसी उपकरण का प्रयोग लंबे समय तक न किया जाए तो बिना प्रयोग किए ही उसके विकृत हो जाने की संभावना बहुत बढ़ जाती है। कई बार हम भूल तक जाते हैं कि ऐसा कोई उपकरण हमारे घर में रखा भी है। कुछ ऐसा ही प्राप्त अथवा संचित ज्ञान अथवा कुशलताओं के साथ होता है अतः मात्र सीखना अथवा याद रखना पर्याप्त नहीं होता उसे व्यवहार में लाना भी अनिवार्य है। एक बार जो चीज़ हमारे व्यवहार में आ जाती है उसे याद रखना अत्यंत सरल हो जाता है और याद रखने के लिए किसी बात को दोहराते रहने से अधिक अच्छी बात कोई अन्य हो ही नहीं सकती। कुछ लोग अंग्रेज़ी भाषा बड़ी आसानी से बोलते हैं लेकिन कुछ लोग उनसे अच्छी अंग्रेज़ी जानते हुए भी अंग्रेज़ी बिलकुल नहीं बोल पाते हैं। कारण स्पष्ट है। हम जो सीखें उसे याद रखें व व्यवहार में लाएँ। हम प्रायः पुनरावृत्ति के अभाव में अनेक उपयोगी व महत्त्वपूर्ण चीज़ों को विस्मृति के गर्त में डाल देते हैं और उनके लाभों से वंचित रह जाते हैं।

हम सब अपने कमाए हुए धन व दूसरी क़ीमती वस्तुओं की सुरक्षा का पूरा ध्यान रखते हैं ताकि हमारा धन व वस्तुएँ समय पर हमारे काम आ जाएँ। जिस प्रकार से कमाए हुए धन व अन्य क़ीमती वस्तुओं की सुरक्षा व सदुपयोग अनिवार्य है संचित ज्ञान अथवा कुशलतओं की सुरक्षा व सदुपयोग भी अनिवार्य है। वैसे भी संचित ज्ञान अथवा कुशलतओं से बड़ा धन और क्या हो सकता है? संचित ज्ञान अथवा कुशलताओं से ही हमारे व्यक्तित्व का विकास होता है और इन्हीं से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से धनार्जन भी संभव होता है। धनार्जन हो, व्यक्तित्व विकास हो अथवा चरित्र निर्माण इन सब बातों के मूल में एक नन्हे बीज की तरह कुछ सकारात्मक विचार ही होते हैं जिनसे हमारा जीवन वट वृक्ष की तरह विस्तार पाता है। जीवन रूपी वृक्ष को अपेक्षित विस्तार देने के लिए विचार रूपी बीजों की पूर्ण सुरक्षा व उनको बोना अनिवार्य है और इसके लिए भी अपेक्षित है कि हम न केवल विचार-बीजों को निरंतर दोहराते रहें अपितु उनको व्यवहार में भी लाते रहें।

गोस्वामी तुलसीदास शास्त्रों की बात कर रहे हैं। यदि हम आधुनिक संदर्भों में शास्त्रों की बात करें तो हर व्यावहारिक व व्यावसायिक योग्यता व कुशलता एक शास्त्र ही है। धर्म-दर्शन अथवा अध्यात्म ही नहीं अर्थशास्त्र अथवा पर्यावरण अध्ययन भी एक शास्त्र है। दूसरों से कैसे व्यवहार करें अथवा बदलती हुई परिस्थितियों में सामंजस्य

कैसे बनाएँ ये भी एक शास्त्र है। जीवन में सफल होने के लिए व्यावहारिक व व्यावसायिक कुशलता भी अनिवार्य है। इसके लिए अनिवार्य है कि हम जब तक अपने क्षेत्र में कुशलता प्राप्त न कर लें निरंतर सीखते रहें और जो सीखा है उसे याद रखने के लिए उसे दोहराते रहें। जिस प्रकार से सीखे हुए ज्ञान को दोहराना अनिवार्य है उसी प्रकार से सीखी हुई कलाओं अथवा शिल्प का अभ्यास करना भी अनिवार्य है। जब कोई कलाकार अभ्यास करना छोड़ देता है उसकी कला में गुणवत्ता का ह्रास होने लगता है। कलाकार की सर्जनात्मकता बुरी तरह से प्रभावित होने लगती है। निरंतर पुनरावृत्ति अथवा अभ्यास का प्रभाव ये होता है कि अर्जित ज्ञान अथवा सीखी हुई विद्याएँ विस्मृत नहीं होतीं और बार-बार की पुनरावृत्ति व अभ्यास से कठिन से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। अभ्यास बढ़ने के साथ-साथ न केवल किए जाने वाले कार्यों की गुणवत्ता में निरंतर सुधार होता जाता है अपितु उनको करने में समय भी कम लगने लगता है। दूसरे जब हम किसी भी कार्य को बार-बार करते हैं तो हमें उसकी आदत पड़ जाती है और वो हमारे जीवन का अंग बन जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से ही नहीं व्यावसायिक दृष्टि से भी चीज़ों का याद रखने का बड़ा महत्त्व है। एक गायक को यदि उसके द्वारा गाए जाने वाले गीत कंठस्थ नहीं होंगे तो उसका तो सारा खेल ही बिगड़ जाएगा। इसी प्रकार से एक नृत्यांगना का उसकी नृत्य शैली में पारंगत होना अनिवार्य है। एक उपदेशक को भी जो कहना है उसे अच्छी प्रकार से याद होगा तभी वो उसे अच्छी तरह से प्रस्तुत कर पाएगा और उसका अच्छा प्रभाव भी सुनने वालों पर पड़ेगा।

मन का ये स्वभाव है कि उसमें कुछ न कुछ नया आता रहता है जो अच्छा अथवा बुरा दोनों प्रकार का हो सकता है। बुरे से बचने के लिए भी हमें अच्छे को प्राथमिकता देनी पड़ेगी। अच्छी बातों को सामने रखकर उनके लिए मन का अनुकूलन अथवा कंडीशनिंग करनी पड़ेगी। अच्छी बातें जब तक हमारे व्यवहार में न आ जाएँ उन्हें याद रखना होगा। उन्हें पहाड़ों की तरह सही-सही रटना और याद रखना होगा। यदि हम पहाड़े भूल जाएँ तो गणित के आसान से आसान प्रश्न भी हल नहीं कर पाएँगे। जीवन के गणित को ठीक से हल करने के लिए, उसमें अच्छे अंक प्राप्त करने के लिए हमें अच्छी बातों अथवा जीवनोपयोगी सूत्रों को भी पहाड़ों की तरह ही सदैव याद रखना होगा। एक विद्यार्थी अथवा परीक्षार्थी परीक्षा भवन में प्रवेश करने तक अपने याद किए हुए उत्तरों को बार-बार दोहराता रहता है ताकि वो किसी भी स्थिति में उन्हें भूल न जाए। जीवन के अंतिम क्षणों तक शास्त्रों की उपयोगी बातों अथवा जीवनोपयोगी कुशलताओं को कंठस्थ करना व उन्हें दोहराते रहने का प्रयास करना न छोड़ना हमारे हित में ही होगा इसमें संदेह नहीं।

ज्योति यादव
ईमेल पता- jy164237@gmail.com

‘पिता’ कहानी में व्यक्त पीढ़ियों का द्वंद्व

शोध सार : साठोत्तरी कहानिकारों में ज्ञानरंजन एक बहुचर्चित नाम है। इनकी कहानियों में संबंधों के बदलाव और विघटन का बोध होता है। ‘पिता’, ‘संबंध’, ‘फेंस के इधर-उधर’, ‘शेष होते हुए’ और ‘घंटा’ आदि कहानियाँ इनकी प्रसिद्धि का आधार हैं। इनकी प्रसिद्ध कहानी पिता में पुरानी पीढ़ी का अपने समकालीन परिवेश से कटते चले जाने तथा दोनों पीढ़ियों का द्वंद्व चित्रित किया गया है। पारिवारिक संबंधों के बदलते स्वरूप को यह कहानी दर्शाती है। लेखक ने नित्य होने वाली सहज घटनाओं के माध्यम से इस टकराहट को व्यक्त किया है। यह द्वंद्व वैचारिक, व्यवहारिक हर तरह से देखने को मिलता है। पिता के माध्यम से पुरानी पीढ़ी के जिद्दी रूप को भी दिखाया गया है। जो इससे पूर्ववर्ती कहानियों में इस रूप में नहीं दर्शाया गया था। यहाँ संयुक्त परिवार का विघटन, दो पीढ़ियों का संघर्ष, रुढ़ीगत मानसिकता और आधुनिकता के द्वंद्व के रूप में इस कहानी को विश्लेषित किया गया है।

बीज शब्द : पीढ़ियों का द्वंद्व, पुरानी पीढ़ी, रूढ़िगत मानसिकता, मूल्यों का संघर्ष, संयुक्त परिवार का विघटन, आधुनिकता, अलगाव-अजनबीपन।

आमुख- कहानीकार ज्ञानरंजन अपनी कहानी ‘पिता’ के माध्यम से आज़ादी के बाद परिवार तथा संबंधो को सूक्ष्मता से रेखांकित करते हैं। पिता अपने संस्कारों, परंपराओं को छोड़ना नहीं चाहते हैं जिसके कारण अपनी समकालीन स्थितियों से जुड़ नहीं पाते हैं, पुत्र भी अपने पिता की पीढ़ी को समझने की जद्दोजहद करते नहीं दिखते। यही पिता-पुत्रों के बीच द्वंद्व की वजह बनती है। कहानी की शुरूआत उमस भरी गर्म रात से होती है। ‘‘बड़ी भयंकर गर्मी है, एक पत्ता भी नहीं डोलता।’’[1] भयंकर गर्मी में पिता का बाहर सोना, घर में मौजूद सुख-सुविधाओं का लाभ न उठाने पर पुत्र चिंतित रहते हैं- ‘‘पैसे खर्च हो रहे हैं लेकिन पिता की रात कष्ट में ही है।’’[2] वे चाहते हैं कि पिता अच्छा खाएँ, अच्छा पहने। सारी सुख-सुविधाओं का लाभ उठाएँ, ‘‘जो पिता के लिए कुल्लू का सेब मंगाने और दिल्ली एंपोरियम से बढ़िया धोतिया मंगाकर उन्हें पहनाने का उत्साह रखते थे, अब तेजी से पिता-विरोधी होते जा रहे हैं।’’[3] पिता के जिद्दी स्वभाव के कारण बच्चों का उत्साह ठंडा पड़ जाता है। कहानी में द्वंद्व की सृष्टि पुत्र द्वारा पिता के लिए सुविधाएँ जुटाने के प्रयासों पर पिता की उदासीनता और अरुचि से होती है। गोपाल राय के शब्दों में, ‘‘ज्ञानरंजन की बहुचर्चित कहानी ‘पिता’ पीढ़ियों की सोच और जीने के तौर-तरीकों की खाई को व्यक्त करने वाली कहानी है।’’[4] दोनों के जीने के तौर तरीकों में काफी अंतर है। पुत्र आधुनिक ख्यालात के हैं। वे जिंदगी आरामदायक तरीके से जीना चाहते हैं और यह भी चाहते हैं कि पिता भी सुविधाओं का लाभ उठाएँ परंतु पिता को ये सब दिखावा, फिजूल खर्च लगता है। वे सामान्य जीवन जीना पसंद करते हैं।

उषा प्रियवदा की कहानी 'पसी' तथा भीष्म साहनी की 'चीफ की दावत' की तरह यहाँ बच्चे पुरानी पीढ़ी से कटते नहीं हैं बल्कि उनके इर्द-गिर्द सुविधाएँ जुटाने का प्रयास करते हैं। पर पिता उसमें कोई खास रुचि नहीं लेते। इन सब के बाद भी उनमें पिता के प्रति चिंता दिखती है। यह दोनों के भावनात्मक जुड़ाव के कारण ही होता है, "सब मन में तय करते हैं आगे से पिता को नहीं घेरेंगे लेकिन थोड़ा समय गुजारने के बाद फिर लोगों का मन पिता के लिए उमड़ने लगता है। लोग मौका ढूंढने लगते हैं, पिता को किस प्रकार अपने साथ सुविधा में थोड़ा बहुत शामिल कर सकें।"[5] बच्चे पिता को ऐशो-आराम वाला जीवन देना चाहते हैं परंतु परिवारजनों के बार-बार आग्रह-अनुरोध पर भी वे आवश्यक सुविधाओं में कोई रुचि नहीं लेते हैं। उनके जिद्दी स्वभाव से बच्चे परेशान रहते हैं। "गजब तो पिता की जिद है, वह दूसरे का आग्रह-अनुरोध मानें तब न! पता नहीं क्यों, पिता जीवन की अनिवार्य सुविधाओं से भी चिढ़ते हैं।"[6] बच्चे पिता को मनाते थक जाते हैं। वे चाहते हैं पिता गर्मी में घर के अन्दर कमरे में पंखे के नीचे सोएं। इंपोर्टेड धोती पहने, बड़े दर्जी से कपड़ा सिलवाएँ, कुल्लू का सेव खाएँ। पर पिता किसी की नहीं सुनते। बच्चों को लगने लगता है, "उसे लगा पिता एक बुलंद भीमकाय दरवाजे की तरह खड़े हैं, जिससे टकरा-टकराकर हम निहायत पिद्दी और दयनीय होते जा रहे हैं।"[7]

पिता की पीढ़ी अगर अपनी समकालीन स्थितियों से नहीं जुड़ पा रही है तो पुत्र की पीढ़ी भी अपने पिता की पीढ़ी को समझने की कोशिश नहीं करती दिखती है। इसलिए इनमें परस्पर मूल्यों का द्वंद्व सहज ही दिख जाता है। मधुरेश ज्ञानरंजन की खासियत को रेखांकित करते हुए लिखते हैं, "एक तेजी से संक्रमण समाज में ज्ञानरंजन मूल्य के संघर्ष को तीखी विडंबना के साथ अंकित करते हैं।"[8] कई लोग इस कहानी को पिता विरोधी भी कहते हैं परंतु ये उचित नहीं है। असल में अभाव ही उनका स्वभाव बनता दिखाई देता है। लेखक अपनी कहानियों के प्रतिनिधि संकलन की भूमिका में इस व्यथा को बयां करते हैं। वे लिखते हैं कि "मेरी पिता कहानी की तारीफ में उसे पिता विरोधी दर्शन के साथ जोड़ने की क्रांतिकारी आलोचना सामने आई। मैं इस तरीके को कभी पसंद नहीं कर सका, क्योंकि मेरी कहानियों में निजी मामले काफी हद तक झूठ भी थे। हाँ, वे सार्वजनिक सच्चाइयों के साथ स्वाभाविक रूप से जोड़े जा सकते थे।"[9] मध्यवर्गीय परिवार में जिस तरह माता-पिता बच्चों की परवरिश, पढाई-लिखाई सुचारू रूप से हो इसलिए अपनी कई जरूरतों और पसंद का त्याग करते हैं- "धीरे-धीरे सबके लिए सुविधाएँ जुटाते रहेंगे, लेकिन खुद उसमें नहीं या कम से कम शामिल होंगे।"[10] एक समय बाद वही सुविधाएँ उन्हें त्याज्य लगने लगती हैं। पिता कहते हैं- "आप लोग जाइए न भाई, कॉफी हाउस में बैठिए, झूठी वैनिटी के लिए बेयरा को टिप दीजिए, रहमान के यहाँ डेढ़ रुपएवाला बाल कटाइए, मुझे क्यों घसीटते हैं!"[11] इस तरह दोनों पीढ़ियों में वैचारिक टकराव चलता रहता है। पिता जमीन से जुड़े आदमी हैं, उन्हें दिखावा और इसके लिए फालतू का खर्च पसंद नहीं। पुरानी पीढ़ी अपने आय के अनुरूप खर्च करती है। नई पीढ़ी उनके बिल्कुल विपरीत है। यह दोनों पीढ़ियों में टकराहट का कारण बनता है। बच्चन सिंह लिखते हैं- "ज्ञानरंजन की पिता कहानी भारतीय कहानी है। इसमें भी दो पीढ़ियों के बीच दुर्लभ खाई

है। लेकिन यह खाई इस समाज की है, इस देश की है। यह पिता पाँचवे दशक के बाबा, दादी, माई वगैरह से एकदम अलग है। उसके प्रति कोई लिजलिजी भावुकता का चित्रण इसमें नहीं है, रूमानी संसक्ति नहीं है। पिता के इस स्वरूप को पुरानी पीढ़ी के चट्टान-सदृश व्यक्तित्व को इस नए परिप्रेक्ष में पहली बार रखा गया है।''[12]

ज्ञानरंजन ने जिस समस्या को उठाया है, वह हिंदी कहानियों में लगभग नदारद है। यहाँ पिता परिवार के सम्मानित सदस्य हैं, पुत्र पिता को साथ लेकर चलना चाहते हैं। परंतु उनके अड़ियल स्वभाव के कारण दोनों में टकराव की स्थिति उत्पन्न होती है। संबंधों में मधुरता नहीं आ पाती है। पिता उन चीजों की बहुत परवाह नहीं करते हैं जो नई पीढ़ी के लिए उनकी शान और इज़्जत से जुड़ा हैं। इसे इस उद्धरण के माध्यम से समझा जा सकता है- ''मुहल्ले में हम लोगों का सम्मान है। चार भले लोग आया जाया करते हैं, आपको अन्दर सोना चहिए, ढंग के कपड़े पहनने चाहिए। और चौकीदारों की तरह रात को पहरा देना बहुत भद्दा लगता है।''[13] बेटों की इस चिंता के मूल में है दिखावा। दरअसल नई पीढ़ी की असली चिंता तो उनके सम्मान को लेकर है। भले ही वो कैसा ही जीवन जी रहे हों लेकिन उससे कई गुना बढ़ाकर दिखाने की प्रवृत्ति नई पीढ़ी में देखने को मिलती है। ज्ञानरंजन ने मध्यवर्गीय समाज की नब्ज़ को ठीक से पकड़ा है- ''ज्ञानरंजन मुख्य रूप से मध्यवर्गीय जीवन की कुरूपताओं, विसंगतियों और खोखलेपन को निस्संग भाव से बेनकाब करनेवाले यथार्थधर्मी कहानीकार है।''[14] इस कहानी में पुत्र का युवा मानस अपनी प्रतिष्ठा के लिए लड़ रहा है तो पिता अपने संस्कारों, परंपराओं को छोड़ना नहीं चाहते हैं। जिससे दोनों में अंतर्विरोध उत्पन्न होता है। पुत्र को पिता का नकार भाव एक तरह का ढोंग लगता है। पुत्र को कई बार लगता है कि पिता से चिल्लाकर कहे कि- ''तुम हमारा निषेध करते हो। तुम ढोंगी हो, अहंकारी- बज्र अहंकारी।''[15] लेकिन नहीं कह पाता क्योंकि इससे उसके कुछ घट जाने या नुकसान हो जाने का डर रहता है। ''वह अनुभव करता था उसके सामने जिंदगी पड़ी है और पिता पर इस तरह चिल्लाने में उसका नुकसान हो सकता है।''[16]

कहानी का जो 'वह' (पुत्र) है उसके मन में पिता के प्रति विरोध है। परंतु वह खुलकर विरोध नहीं कर पाता है। उसे लगता है कि उसके सामने जिंदगी पड़ी है और पिता पर चिल्लाने से उसका कोई नुकसान हो सकता है। यहाँ इन सबके मूल में स्वार्थ दिखता है अगर स्वार्थ न होता तो शायद वह विरोध करने से पीछे न हटता। ज्ञानरंजन की यही खासियत है कि जो जैसा है वैसे ही चित्रित कर देते हैं। उनमें जोड़-घटाव का प्रयास नहीं दिखता। ''चीजें जैसी वे हैं उन्हें उनके सही और वास्तविक रूप में पकड़ने की कोशिश ही ज्ञानरंजन की कहानियों का मूल कथ्य है।''[17] कहानी के पिता भले ही रूढ़ियों से चिपके हैं, कठोर हैं फिर भी स्वाभिमानी हैं। किसी का एहसान नहीं लेना चाहते, यहाँ तक की अपने बेटों का भी नहीं। बहन की पढ़ाई के लिए भाई द्वारा भेजे गए रुपए को वे वापस कर देते हैं- ''वायु-सेना में नौकरी करने वाला उसका कप्तान भाई, बहन के यूनिवर्सिटी के खर्चे के लिए दस वर्ष तक पचास रुपए महीना भेजता रहा था। एक बार अकस्मात कप्तान भाई होली-अवकाश मनाने घर आया गया। पिता ने उसके हाथ में उसके साथ नाम की बारह सौ रुपयों वाली एक पासबुक थमा दी।''[18] पिता को इस बात की चिन्ता रहती है कि कहीं आगे

चलकर भाई बहन पर इस बात के लिए रोब न जमाए क्योंकि उसकी पढ़ाई पर उसने खर्चा किया है। इसलिए बेटी को पढ़ाने में बेटे का पैसा खर्च न करके वे अपनी जेब से करते हैं। ज्ञानरंजन आज़ादी के बाद संबंधो के बिखराव, संयुक्त परिवार के टूटन, पीढ़ियों की टकराहट को बहुत सूक्ष्मता से व्यक्त करने वाले कहानीकार हैं। 'पिता' कहानी के माध्यम से लेखक संयुक्त परिवार के संबंधों को रेखांकित करते हैं। इस कहानी में तमाम द्वंदो के माध्यम से ज्ञानरंजन समकालीन समस्याओं का सामने रखते हैं। उनका उद्देश्य बदले हुए यथार्थ और संबंधों को दर्शाना है। साथ ही दोनों पीढ़ियों के बीच तनाव और अलगाव के कारणों की पड़ताल करना भी है। दो पीढ़ियों के मध्य द्वंद्व के कारणों तथा उनके बीच सामंजस्य के सूत्र ज्ञानरंजन इस कहानी में देते हैं।

संदर्भ सूची-

1. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या-16
2. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या-18
3. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या-17
4. राय, गोपाल. (2014). हिंदी कहानी का इतिहास. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 407
5. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 17
6. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 17
7. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 20
8. मधुरेश. (2016). हिंदी कहानी का विकास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या-166
9. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- भूमिका
10. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 17
11. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 17
12. धनंजय, डॉ. समकालीन कहानी दिशा और दृष्टि. अभिव्यक्ति प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 93
13. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 17
14. तिवारी, रामचंद्र. डॉ. (2022). हिंदी का गद्य-साहित्य. वाराणसी : विश्वविद्यालय प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 410
15. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 19
16. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 19
17. मधुरेश. (2016). हिंदी कहानी का विकास. इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 166
18. ज्ञानरंजन. (2007). प्रतिनिधि कहानियाँ. नई दिल्ली : राजकमल प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 20

विवेक विस्तार
परास्नातक, हिंदी
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली
ईमेल पता : vivekvistarofficial@gmail.com
संपर्क सूत्र : 9755915473

'कफ़न' का पुनर्मूल्यांकन

शोध सार : साहित्य समाज का दर्पण होता है। यह बात साहित्य के संदर्भ में अक्सर कही जाती है। प्रेमचंद 'साहित्य का उद्देश्य' में लिखते हैं- "साहित्य अपने काल का प्रतिबिंब होता है। जो भाव और विचार लोगों के हृदय को स्पंदित करते हैं, वही साहित्य पर भी अपनी छाया डालते हैं।"[1] अच्छा साहित्य वह जो समय की परिधि से आगे निकालकर समाज की कई परतों को उद्घाटित करता है। समय और समाज का यह अंतराल रचना के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता को जन्म देता है। प्रेमचंद की 'कफ़न' कहानी (1936) का यह पुनर्मूल्यांकन लेखक के आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद से विद्रूप यथार्थवाद की ओर संक्रमण को चिह्नित करता है। घीसू-माधव के चरित्रों के माध्यम से भूख, गरीबी और सामाजिक व्यवस्था की क्रूरता का चित्रण किया गया है, जहाँ प्रसव-वेदना में तड़पती बुधिया की उपेक्षा आलू भूनने को प्राथमिकता मिलती है। लेख वर्गीय-जातीय शोषण, मनोवैज्ञानिक क्षय और दलित स्त्री त्रासदी पर केंद्रित है। समकालीन प्रासंगिकता में यह आर्थिक विषमता और सामाजिक न्याय का दस्तावेज़ है। यह प्रेमचंद की सबसे अधिक विवादों में रहने वाली कहानी भी है, जिस पर आलोचकों ने अपनी कलम चलाई है, उनका पक्ष और प्रतिपक्ष महत्त्वपूर्ण है। इस लेख का सार यह है कि 'कफ़न' दलित-विरोधी नहीं, अपितु शोषण-व्यवस्था की आलोचना है, जो चेतना-विकास का सोपान है।

बीज शब्द : पुनर्मूल्यांकन, साहित्य, आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद, चेतना, अमानवीयता, मनोविज्ञान, शोषण, दलित, संवेदना, नैतिकता।

आमुख : प्रेमचंद कथा साहित्य में एक युग प्रवर्तक हैं। उनकी लेखन यात्रा अथवा लेखकीय जीवन ऐसा प्रतीत होता है मानो डार्विन के विकासवाद के सिद्धांत का अनुपालन करता हो। प्रेमचंद ने कथा साहित्य को उसके शैशव काल से निकालकर परिपक्व बनाने की आधारशिला रखी। इस प्रक्रिया में समय भी ठीक-ठाक लगा। परन्तु उस समय ने केवल कथा - साहित्य को ही नहीं बल्कि प्रेमचंद को भी बहुत कुछ बदला। हिन्दी कथा साहित्य ने दो प्रेमचंद देखे; एक प्रेमचंद वह जो गांधीवादी आदर्शों से इस तरह बँधे थे कि घरेलू हिंसा सहने वाली आनंदी को 'बड़े घर की बेटी' बना देते हैं; और दूसरे प्रेमचंद वह जो आदर्शवाद की कागजी नाव से उतरकर यथार्थ के सागर में व्याप्त सामाजिक

विद्रूपताओं की धाराओं से टकराते हैं तथा गोदान में धनिया जैसा सशक्त नारी पात्र भी गढ़ते हैं; जो कालांतर में रचे गए नारीवादी साहित्य के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है।

'कफ़न' कहानी प्रेमचंद के लेखन की विकासात्मक प्रक्रिया का चरम आयाम है। इस कहानी में प्रेमचंद अपनी सबसे सशक्त धारणा 'आदर्शोन्मुखी यथार्थवाद' को खारिज कर देते हैं और समाज के वीभत्स, कुंठित, विद्रूप यथार्थ को बेपर्दा कर देते हैं। सन् 1936 में प्रकाशित प्रेमचंद की यह अंतिम कहानी वास्तव में अंत-रहित है, क्योंकि यह कहानी अनेक प्रश्न छोड़ जाती है। जिस कारण यह कहानी आज भी नई है और बहुत आलोचकों ने इस पर बहुत कुछ कहा उसके बावजूद बहुत कुछ और कहने की संभावना यह कहानी छोड़ती है। इसलिए इस कहानी का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक और प्रासंगिक है।

यदि 'कफ़न' कहानी के कथानक की बात करें तो यह वैसा नहीं है जैसा प्रेमचंद की अन्य कहानियों में आमतौर पर पाया जाता है। इस कहानी में घटनाएँ कम ही हैं- न के बराबर, परंतु उन घटनाओं की पारिस्थितिकी से निर्मित गहन विश्लेषण इस कहानी को विशिष्ट व प्रयोगधर्मी बनाता है। कहानी का प्रथम वाक्य ही है- ''एक झोपड़े के द्वार पर बाप और बेटा दोनों एक बुझे हुए अलाव के सामने चुपचाप बैठे हुए थे और अंदर जवान बेटे की जवान बीवी बुधिया प्रसव वेदना में पछाड़ खा रही थी।''[2] इस पहले वाक्य में 'बुझा हुआ अलाव ही इस कहानी का प्रवेश द्वार है। यह संकेत केवल अलाव के बुझने का नहीं बल्कि उत्साह, संवेदना, मानवीयता के बुझने का भी है। प्रसव वेदना से पीड़ित बुधिया को देखने दोनों में से एक भी व्यक्ति नहीं जाना चाहता है क्योंकि उन्हें यह आशंका है कि किसी एक के जाते ही दूसरा व्यक्ति भुने हुए आलू खा जाएगा। आकाश वृत्ति पर ज़िंदा रहने वाले बाप-बेटे के लिए भुने हुए आलुओं की कीमत उस मरती हुई स्त्री से अधिक है। जिस विसंग भाव से वे तालू के जलने की चिंता किए बिना जिस तेजी से वे आलू खा रहे हैं, उससे उनकी मारक गरीबी का अनुमान सहज ही हो जाता है। यह विसंगति कहानी की संपूर्ण संरचना के साथ विडंबनात्मक ढंग से जुड़ी हुई है। घीसू ने भूख पर विजय और तृप्ति का अहसास अंतिम बार बीस वर्ष पहले ठाकुर की बारात में किया था। बुधिया की प्रसव वेदना के समानांतर तृप्ति का यह वर्णन प्रसंग की अमानवीयता को ठोस बनाने का यह प्रयास प्रेमचंद सायास करते हैं और इसमें सफल भी होते हैं।

'कफ़न' कहानी को देखने की एक दृष्टि यह भी है, जिसमें उस सामाजिक व्यवस्था को कटघरे में लाना होगा, जो किसी विशेष वर्ग के मन में श्रम और जीविकोपार्जन के प्रति नकारात्मक अभिवृत्ति विकसित कर देती है। जैसा कि कहानी में बताया गया है कि घीसू-माधव 'दलित' जाति से हैं और अपनी कामचोरी के लिए सारे गाँव में बदनाम हैं। परंतु घीसू-माधव की कामचोरी उनकी व्यक्तिगत अथवा जातिगत समस्या नहीं बल्कि व्यवस्था की घृणित निर्मिति का परिणाम थी। इसका इशारा स्वयं प्रेमचंद करते हैं- ''जिस समाज में रात-दिन मेहनत करने वालों की हालत उनकी हालत से कुछ बहुत अच्छी नहीं थी और किसानों के मुकाबले में वे लोग जो किसानों को

दुर्बलताओं का लाभ उठाना जानते थे, कहीं ज्यादा संपन्न थे; वहाँ इस तरह की मनोवृत्ति का पैदा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी।"[3]

सार्त्र ने कहा था कि- "मनुष्य स्वतंत्र रहने के लिए अभिशप्त है।" परंतु जब स्वतंत्रता थोपे गए अभाव के आवरण में हो तब वह अभिशाप बन जाती है। थोपा गया अभाव अर्थात यह व्यवस्था धनुष चलाने की स्वतंत्रता तो देती है, लेकिन एकलव्य से उसका अँगूठा दान में माँग लेती है। उसी कुंठित व्यवस्था का ताना बाना 'कफ़न' कहानी में इस तरह से बुना हुआ है कि लगभग प्रच्छन्न सा है। 'सद्गति' कहानी में यह ताना - बाना स्पष्ट था। ब्राह्मण को 'अपवित्र' कर देने के अपराध बोध की फाँस को काटते-काटते दुखी मर जाता है। 'कफ़न' में वह फाँस प्रच्छन्न है, परन्तु है उतनी ही खतरनाक। तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों ने दुखी की तुलना में घीसू-माधव को अधिक चेतस कर दिया। कम से कम उन्हें उस व्यवस्था में व्याप्त समस्याओं का आभास तो है, दुखी में यह अनुपलब्ध था। हालाँकि 'कफ़न' कहानी को समझने के लिए जातीय दृष्टिकोण के साथ-साथ वर्गीय विश्लेषण भी आवश्यक है। मैनेजर पाण्डेय ने संकेत किया है कि प्रेमचंद के साहित्य में मार्क्सवादी दृष्टिकोण का विकास हुआ है। घीसू-माधव की स्थिति को केवल जातीय शोषण से नहीं बल्कि आर्थिक शोषण से भी समझना होगा। इसी तरह जब घीसू कहता है कि- "वह बैकुंठ में न जाएगी तो क्या ये मोटे- मोटे लोग जाएँगे जो गरीबों को दोनों हाथों से लूटते हैं।"[4] ये कथन धनी वर्ग के विरुद्ध स्पष्ट वर्गीय संघर्ष की चेतना दिखाते हैं। चेतना का विकास स्वतः नहीं होता है। ओमप्रकाश वाल्मीकि कहते हैं- "चेतना का सीधा संबंध दृष्टि से होता है।"[5] थोपे गए अभाव दृष्टि का अतिक्रमण कर लेते हैं। जिससे चेतना का विकास अवरुद्ध हो जाता है। यह सच है कि 'कफ़न' में दलित चेतना का वह स्वरूप नहीं है जो आज के दलित साहित्य में मिलता है। परंतु 1936 में लिखी कहानी से आज जैसी चेतना की अपेक्षा करना उसके साथ न्याय नहीं होगा।

'कफ़न' कहानी स्त्री की त्रासदी की भी कहानी है। बुधिया दलित भी है और स्त्री भी। अतः उसका अभिशाप दो गुना बढ़ जाता है। जो उसे दोहरे शोषण का शिकार बनाता है। कहानी में उसका केवल कराहना और चीखना ही सुनाई देता है। उसकी कोई आवाज़ नहीं है, न ही उसका कोई संवाद है। जबकि वह उस परिवार की आर्थिक रीढ़ थी, तब भी उसकी वेदना को नहीं सुना जाता है और उसे मरने के लिए छोड़ दिया जाता है। दलित आलोचक डॉ. धर्मवीर ने तो इस ओर भी इशारा किया है कि- "बुधिया गाँव के जमींदार के लौंडे से गर्भवती थी। उसने बुधिया से खेत में बलात्कार किया था।"[6] वहीं मैत्रेयी पुष्पा ने स्त्रीवादी निगाह से व्याख्या करते हुए कहा है कि- "माधव कामुक था और उसकी कामुकता ने ही बुधिया की वह दशा की।"[7] दोनों आलोचकों की व्याख्याओं को एक साथ देखने पर दलित स्त्री के साथ जाति और लिंग के आधार पर किए जाने वाले दोहरे शोषण की तस्वीर और अधिक स्पष्ट हो जाती है।

'कफ़न' कहानी का मूल्यांकन अधूरा है यदि उसके मनोवैज्ञानिक पक्ष पर बात न की जाए। जब व्यक्ति लगातार अभावों में रहता है तो उसकी प्राथमिकताएँ बदल जाती हैं और वह अमानवीय एवं असंवेदनशील व्यवहार करने लगता है। प्रेमचंद ने यही मनोवैज्ञानिक सत्य बड़े ही सलीके से कहानी में पिरोया है। वास्तव में घीसू-माधव की प्रकृति अमानवीय नहीं है, बल्कि उनका व्यवहार जीवन भर के अभावों के कारण अमानवीय प्रतीत होता है। वे घीसू-माधव जो भुने हुए आलुओं के लिए अपनी परिजन बुधिया को मरता हुआ छोड़ देते है, परंतु वे ही दोनों कफ़न के पैसों से भूख मिटने के बाद 'दान के गौरव' का अनुभव करते हैं और उस उक्ति को सार्थक करते हैं- 'भूखे भजन न होई गोपाला। ले ल आपन कंठी माला।' प्रेमचंद इशारा करते हैं- "भरपेट खाकर माधव ने बची हुई पूरियों का पत्तल उठाकर एक भिखारी को दे दिया, जो खड़ा इनकी ओर भूखी आँखों से देख रहा था और देने के गौरव, आनंद और उल्लास का अपने जीवन में पहली बार अनुभव किया।"[8] मार्के की बात यह है कि जब व्यक्ति की भूख तृप्त हो जाती है तब उसकी संवेदनाएँ जाग्रत होने लगती हैं। विचार, आस्था, प्रेम, मनुष्यता, संवेदना आदि सभी नैतिकताएँ भरे पेट की उपज होती हैं। अदम गोंडवी ठीक यही बात अपनी ग़ज़ल में भी कहते हैं-

"वेद में जिनका हवाला हाशिए पर भी नहीं

वे अभागे आस्था विश्वास लेकर क्या करें?

गर्म रोटी की महक पागल बना देती मुझे

पारलौकिक प्रेम का मधुमास लेकर क्या करें?"[9]

यही संकेत प्रेमचंद 'कफ़न' कहानी में करते हैं। घीसू-माधव की संवेदनाएँ तब जाग्रत होती हैं, जब वे जी-भर भोजन-शराब का सेवन कर लेते हैं- "माधव बोला- मगर दादा, बेचारी ने ज़िंदगी में बड़ा दु:ख भोगा। कितना दु:ख झेलकर मरी! वह आँखों पर हाथ रखकर रोने लगा। चीखें मार-मारकर।"[10] ये सहज वृत्तियाँ मानवीय स्वभाव का अभिन्न हिस्सा हैं, जो अनुकूल समय व परिस्थितियाँ पाकर जाग्रत हो उठती हैं। 'कफ़न' कहानी मनोवैज्ञानिक यथार्थ का निर्वहन करती हुई चलती है। इसके लिए प्रेमचंद की लेखनी की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि प्रशंसा की पात्र है। 'कफ़न' कहानी प्रेमचंद की कहानियों के मानसरोवर का सबसे अधिक विकसित कमल है। जो आज तक उसी समाज के कीचड़ में यथार्थ की भाँति खिला हुआ है। इसकी प्रासंगिकता आज भी वैसी ही बनी हुई है, बस स्वरूप बदला है समस्या नहीं। आज के युग में भी आर्थिक विषमता एक जीवंत समस्या है। गरीबी, भुखमरी और सामाजिक उपेक्षा के कारण होने वाले मानसिक विकार आज भी दिखाई देते हैं। कहानी सामाजिक न्याय के प्रश्न को भी उठाती है। घीसू और माधव जैसे लोगों के लिए समाज में कोई स्थान नहीं है। वे न तो पूर्ण रूप से अपराधी हैं और न ही

निर्दोष। कहानी शिक्षा के अभाव और सामाजिक चेतना की कमी को भी दर्शाती है। घीसू और माधव दोनों ही अशिक्षित हैं और उनमें सामाजिक दायित्व की भावना का अभाव है।

'कफ़न' कहानी प्रेमचंद के समय, समाज और जीवनानुभवों का मंथन है, जिसमें अमृत भी है और विष भी। 'कफ़न' शीर्षक स्वयं में गहरी प्रतीकात्मकता लिए हुए है। यह केवल बुधिया के शव को ढकने का कपड़ा नहीं बल्कि समाज की मृत संवेदना और नैतिक पतन का प्रतीक है। कहानी की सबसे बड़ी विशेषता है कि यह पाठक को सोचने पर मजबूर कर देती है। यह सीधे उत्तर नहीं देती बल्कि प्रश्न खड़े करती है। प्रेमचंद ने घीसू-माधव के माध्यम से दिखाया है कि चरम परिस्थितियों में मनुष्य कैसे अपनी मानवीयता खो देता है। साथ-साथ वे भूख के मनोविज्ञान और व्यवस्थागत शोषण को उजागर करते हैं। यह कहानी न तो दलित विरोधी है न अमानवीय। बल्कि यह उस व्यवस्था की कठोर आलोचना है जो मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने देती। आज के दलित विमर्श के सन्दर्भ में 'कफ़न' कहानी एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है जो दिखाती है कि दलित-मुक्ति का मुख्य मार्ग आर्थिक विकास से होकर गुजरता है। यह कहानी दलित चेतना के विकास में एक महत्त्वपूर्ण सोपान है, न कि उसकी विरोधी। प्रेमचंद ने इस कहानी के माध्यम से उस सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता को रेखांकित किया है, जिसके बिना दलित मुक्ति संभव नहीं है। अत: यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रेमचंद की यह कहानी हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि है जो आने वाली पीढ़ियों के लिए एक मील का पत्थर बनकर रहेगी। इसका पुनर्मूल्यांकन न केवल साहित्यिक दृष्टि से बल्कि सामाजिक और मानवीय दृष्टि से भी आवश्यक है।

संदर्भ सूची-

1. प्रेमचंद. (2017). साहित्य का उद्देश्य. वाराणसी : अनुराग प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 3
2. प्रेमचंद. (2017). प्रेम मंजूषा. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 209
3. प्रेमचंद. (2017). प्रेम मंजूषा. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 211
4. प्रेमचंद. (2017). प्रेम मंजूषा. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 216
5. वाल्मीकि, ओमप्रकाश. (2022). दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र. नई दिल्ली : राधाकृष्ण पेपरबैक्स. पृष्ठ संख्या- 5
6. धर्मवीर. (2007). प्रेमचंद: सामंत का मुंशी. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या-17
7. पुष्पा, मैत्रेयी. (2006). आपकी धनिया. हंस (संपा.- राजेन्द्र यादव)
8. प्रेमचंद. (2017). प्रेम मंजूषा. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 216
9. अदम गोंडवी, समय से मुठभेड़, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2023, पृष्ठ-45
10. प्रेमचंद. (2017). प्रेम मंजूषा. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 216

डॉ. पूनम कुमारी
भारतीय भाषा केंद्र
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (दिल्ली)
ईमेल पता : Poonamjnu92@gmail.com

आधुनिक हिंदी कविता में भारतीय ज्ञान-परंपरा की पुनर्व्याख्या

शोध सार: यह शोध आलेख आधुनिक हिंदी कविता में भारतीय ज्ञान-परंपरा की पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया का विश्लेषण करता है। भारतीय ज्ञान-परंपरा, जो वेदों, उपनिषदों, दर्शन, भक्ति-आंदोलन, लोकचेतना और सांस्कृतिक अनुभवों की दीर्घ ऐतिहासिक धारा से निर्मित हुई है, मूलतः समग्रता, नैतिकता, अनुभव-आधारित सत्य और सहअस्तित्व की दृष्टि पर आधारित रही है। आधुनिक हिंदी कविता इस परंपरा को स्थिर विरासत के रूप में स्वीकार नहीं करती, बल्कि उसे समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और मानवीय संदर्भों में पुनर्परिभाषित करती है। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि आधुनिक कवि उपनिषदिक आत्म-अन्वेषण, भक्ति-परंपरा की करुणा, भारतीय दर्शन की समग्र दृष्टि, प्रकृति-चेतना, लोकज्ञान और मिथकीय संरचनाओं को नए अर्थ प्रदान करता है। आधुनिक कविता में ये तत्त्व आध्यात्मिक अनुभव से आगे बढ़कर सामाजिक न्याय, लोकतांत्रिक चेतना, पर्यावरणीय संवेदनशीलता, स्त्री-अस्मिता और मानवतावादी मूल्यों के रूप में पुनः स्थापित होते हैं। आलेख यह भी प्रतिपादित करता है कि आधुनिक हिंदी कविता भारतीय ज्ञान-परंपरा के पुनर्पाठ की केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति नहीं है, बल्कि यह सांस्कृतिक पुनर्सृजन की प्रक्रिया है, जो अतीत और वर्तमान के बीच संवाद स्थापित करती है। इस पुनर्व्याख्या के माध्यम से परंपरा की जीवंतता और परिवर्तनशीलता दोनों का समन्वय संभव होता है। अतः आधुनिक हिंदी कविता भारतीय सांस्कृतिक चेतना के विकास में एक सेतु के रूप में कार्य करती है, जो ज्ञान, संवेदना और सामाजिक परिवर्तन के बीच संतुलन स्थापित करती है।

बीज शब्द : आधुनिक हिंदी कविता, भारतीय ज्ञान-परंपरा, पुनर्व्याख्या, उपनिषदिक चिंतन, भक्ति-परंपरा, आत्म-अन्वेषण, लोकचेतना, मिथक पुनर्पाठ, पर्यावरणीय चेतना, मानवतावाद, सांस्कृतिक पुनर्सृजन, समग्र दृष्टि, नैतिकता, आधुनिकता और परंपरा संवाद।

आमुख: भारतीय साहित्यिक परंपरा की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी निरंतरता और परिवर्तनशीलता रही है। यह परंपरा केवल अतीत की स्थिर धरोहर नहीं, बल्कि जीवंत सांस्कृतिक चेतना की वह प्रवाहमान धारा है, जो समय, समाज और मानवीय अनुभवों के साथ निरंतर संवाद करती रहती है। इसी कारण भारतीय ज्ञान-परंपरा को किसी एक ग्रंथ, युग या विचारधारा तक सीमित नहीं किया जा सकता। यह वेदों और उपनिषदों की दार्शनिक दृष्टि से लेकर बौद्ध करुणा, भक्ति-आंदोलन की लोकसंवेदना, लोकजीवन के अनुभवों और आधुनिक चिंतन की वैज्ञानिक चेतना तक विस्तृत है। भारतीय ज्ञान-परंपरा का मूल स्वभाव समग्रता, सहअस्तित्व और नैतिक संतुलन पर आधारित

रहा है। यहाँ ज्ञान को केवल बौद्धिक प्रक्रिया नहीं माना गया, बल्कि उसे अनुभव, आचरण और सामाजिक उत्तरदायित्व से जोड़ा गया है। यही कारण है कि भारतीय चिंतन में ज्ञान और जीवन के बीच कभी विभाजन नहीं रहा। 'सत्य', 'धर्म', 'ऋत', 'करुणा' और 'लोकमंगल' जैसे सूत्र इस परंपरा के मूल आधार रहे हैं।

आधुनिकता के आगमन के साथ भारतीय समाज ने तीव्र सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन का अनुभव किया। औपनिवेशिक प्रभाव, औद्योगिक विकास, वैज्ञानिक चेतना, लोकतांत्रिक मूल्यों और वैश्विक संपर्कों ने जीवन-दृष्टि को व्यापक रूप से प्रभावित किया। इस परिवर्तनशील संदर्भ में साहित्य ने भी नई संवेदनाओं और प्रश्नों को अभिव्यक्ति दी। आधुनिक हिंदी कविता इसी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक संक्रमण की उपज है। आधुनिक हिंदी कविता की विशेषता यह है कि वह परंपरा को अस्वीकार नहीं करती, बल्कि उसे नए संदर्भों में पुनः अर्थ देती है। आधुनिक कवि भारतीय ज्ञान-परंपरा को अतीत की स्मृति के रूप में नहीं, बल्कि वर्तमान के संकटों को समझने और भविष्य की दिशा निर्धारित करने वाली जीवित चेतना के रूप में देखता है। वह उपनिषदिक आत्म-अन्वेषण, भक्ति की करुणा, लोकजीवन की संवेदना, मिथकीय प्रतीकों और नैतिक मूल्यों को समकालीन सामाजिक यथार्थ, लोकतांत्रिक आकांक्षाओं, स्त्री-अस्मिता, पर्यावरणीय संकट और मानवीय संघर्षों के संदर्भ में पुनर्परिभाषित करता है। इस प्रकार आधुनिक हिंदी कविता में भारतीय ज्ञान-परंपरा की उपस्थिति केवल प्रभाव या अनुकरण का परिणाम नहीं है, बल्कि यह सक्रिय पुनर्व्याख्या की प्रक्रिया है। यह पुनर्पाठ परंपरा की जीवंतता को बनाए रखते हुए उसे वर्तमान की चुनौतियों के अनुरूप रूपांतरित करता है। इसी दृष्टि से आधुनिक हिंदी कविता को भारतीय सांस्कृतिक चेतना के विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। प्रस्तुत आलेख का उद्देश्य इसी पुनर्व्याख्यात्मक प्रक्रिया का विश्लेषण करना है, जिससे यह स्पष्ट हो सके कि आधुनिक हिंदी कविता किस प्रकार भारतीय ज्ञान-परंपरा के मूल तत्त्वों-समग्रता, अनुभव-आधारित सत्य, नैतिक चेतना और सहअस्तित्व की भावना को नए अर्थ प्रदान करती है तथा परंपरा और आधुनिकता के बीच सार्थक संवाद स्थापित करती है।

भारतीय ज्ञान-परंपरा और आधुनिक हिंदी कविता के संबंध को केवल प्रभाव या परंपरा-अनुसरण के रूप में नहीं समझा जा सकता, बल्कि यह संबंध मूलतः संवाद और पुनर्व्याख्या का है। भारतीय चिंतन परंपरा का एक प्रमुख गुण यह रहा है कि उसने ज्ञान को स्थिर और अंतिम नहीं माना, बल्कि उसे निरंतर विकसित होने वाली प्रक्रिया के रूप में देखा। इसी कारण वेदांत से लेकर भक्ति और लोक परंपरा तक हर युग में पुराने विचारों को नए संदर्भों में समझने का प्रयास हुआ। आधुनिक हिंदी कविता इसी परंपरा का आधुनिकतम रूप है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में ज्ञान का आधार अनुभव और चेतना रहा है। यहाँ ज्ञान केवल तर्क या सूचना नहीं, बल्कि अनुभूति से उत्पन्न सत्य है। आधुनिक हिंदी कविता में यह अनुभूति-आधारित ज्ञान नई संवेदनात्मक संरचना के रूप में दिखाई देता है। आधुनिक कवि अपने अनुभवों के माध्यम से सत्य की खोज करता है और यही खोज उसे भारतीय ज्ञान परंपरा के मूल सूत्रों से जोड़ती है। उपनिषदों में "नेति-नेति" की जो अवधारणा है, वह ज्ञान की सीमाओं को स्वीकार करने की दृष्टि देती है।

आधुनिक हिंदी कविता में यह दृष्टि संशय, प्रश्न और आलोचनात्मक चेतना के रूप में प्रकट होती है। आधुनिक कवि किसी भी सत्य को अंतिम नहीं मानता, बल्कि उसे निरंतर प्रश्नों के माध्यम से परखता है। यह दृष्टि भारतीय ज्ञान परंपरा के उस मूल सिद्धांत की आधुनिक अभिव्यक्ति है, जिसमें ज्ञान को निरंतर खोज की प्रक्रिया माना गया है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में सत्य और सौंदर्य का संबंध अत्यंत घनिष्ठ रहा है। यहाँ सौंदर्य केवल बाह्य आकर्षण नहीं बल्कि सत्य की अनुभूति का माध्यम है। आधुनिक हिंदी कविता में यह विचार नई रूपात्मकता और प्रतीकात्मकता के रूप में प्रकट होता है। आधुनिक कवि सौंदर्य को सामाजिक और मानवीय अनुभवों से जोड़ता है। वह पीड़ा, संघर्ष और विषमता को भी सौंदर्य का विषय बनाता है। इस प्रकार आधुनिक कविता भारतीय सौंदर्य-दर्शन को यथार्थवादी और सामाजिक संदर्भ में पुनः व्याख्यायित करती है।

आधुनिक हिंदी कविता को यदि केवल साहित्यिक प्रवृत्ति या भाषिक प्रयोग के रूप में देखा जाए तो यह दृष्टि अधूरी होगी, क्योंकि इसकी मूल चेतना भारतीय ज्ञान-परंपरा के साथ गहरे संवाद से निर्मित होती है। भारतीय ज्ञान-परंपरा स्वयं में अत्यंत व्यापक अवधारणा है, जिसमें वेद, उपनिषद, पुराण, बौद्ध-जैन दर्शन, भक्ति आंदोलन, लोकज्ञान, तंत्र-परंपरा, नैतिक साहित्य, प्रकृति-चिंतन तथा सांस्कृतिक अनुभवों की दीर्घ परंपरा सम्मिलित है। यह परंपरा स्थिर नहीं रही, बल्कि समय-समय पर पुनर्पाठ और पुनर्व्याख्या के माध्यम से विकसित होती रही है। आधुनिक हिंदी कविता इसी पुनर्व्याख्यात्मक परंपरा की नवीनतम अभिव्यक्ति है। भारतीय ज्ञान-परंपरा की पुनर्व्याख्या को समझने के लिए यह संस्कृत कल्याण-मंत्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है-

“सर्वे भवन्तु सुखिनः

सर्वे सन्तु निरामयाः।

सर्वे भद्राणि पश्यन्तु

मा कश्चिद्दुःखभाग्भवेत्॥”

आधुनिक हिंदी कविता इस मंत्र को सामाजिक समानता, लोकतांत्रिक चेतना और मानवाधिकार की आकांक्षा के रूप में पुनर्परिभाषित करती है। भारतीय ज्ञान-परंपरा का मूल आधार समग्रता का सिद्धांत है। यहाँ ज्ञान को केवल बौद्धिक उपलब्धि नहीं माना गया, बल्कि जीवन की अनुभूति और नैतिक आचरण से जोड़ा गया। “सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म” और “वसुधैव कुटुम्बकम्” जैसे सूत्र इस परंपरा की व्यापक मानवीय दृष्टि को व्यक्त करते हैं। आधुनिक हिंदी कविता में यही दृष्टि बदलते समय के संदर्भों में नए अर्थ ग्रहण करती है। आधुनिक कवि इन सूत्रों को यांत्रिक रूप में स्वीकार नहीं करता, बल्कि उन्हें सामाजिक-राजनीतिक वास्तविकताओं के साथ जोड़कर पुनः अर्थ देता है। उपनिषदों की आत्म-अन्वेषण परंपरा आधुनिक हिंदी कविता में गहन रूप से दिखाई देती है। उपनिषदों का

मूल प्रश्न 'कोऽहम्?' आधुनिक कविता में अस्तित्ववादी चिंता और आत्म-संघर्ष के रूप में प्रकट होता है। संस्कृत का यह प्रसिद्ध श्लोक-

"असतोमासद्गमय,
तमसोमाज्योतिर्गमय,
मृत्योर्मा अमृतं गमय।"

आधुनिक कवि के लिए केवल आध्यात्मिक मुक्ति का मंत्र नहीं, बल्कि सामाजिक अंधकार से ज्ञान और न्याय की ओर बढ़ने का प्रतीक बन जाता है। इस प्रकार पारंपरिक आध्यात्मिक ज्ञान आधुनिक समय में सामाजिक चेतना के रूप में पुनः प्रकट होता है। उपनिषदों में आत्म-ज्ञान को सर्वोच्च ज्ञान माना गया है। "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" का जो सिद्धांत है, वह आधुनिक कविता में आत्म-संघर्ष और आत्म-पहचान की समस्या के रूप में प्रकट होता है। आधुनिक कवि के लिए आत्म-ज्ञान अब केवल आध्यात्मिक अनुभूति नहीं, बल्कि सामाजिक और मनोवैज्ञानिक मुक्ति का माध्यम बन जाता है। यही कारण है कि आधुनिक कविताओं में व्यक्ति के भीतर की बेचैनी, असुरक्षा और पहचान-संकट बार-बार दिखाई देता है। भारतीय ज्ञान-परंपरा की एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता उसकी समन्वयकारी दृष्टि है। यहाँ विरोध नहीं, बल्कि संवाद को महत्त्व दिया गया है। आधुनिक हिंदी कविता इसी समन्वयकारी दृष्टि को सांस्कृतिक बहुलता और लोकतांत्रिक चेतना के रूप में पुनः व्याख्यायित करती है। उपनिषदों में कहा गया है- "एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति।" आधुनिक कविता इस सूत्र को सांस्कृतिक विविधता और सहअस्तित्व के सिद्धांत के रूप में प्रस्तुत करती है। आज का कवि जाति, धर्म, भाषा और वर्ग के विभाजनों से ऊपर उठकर मानवता की एकता की बात करता है।

भारतीय ज्ञान-परंपरा में ज्ञान और कर्म के समन्वय को अत्यंत महत्त्व दिया गया है। भगवद्गीता का यह प्रसिद्ध श्लोक- "कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" आधुनिक हिंदी कविता में कर्म का यह सिद्धांत सामाजिक सक्रियता और परिवर्तन की प्रेरणा के रूप में पुनः प्रकट होता है। आधुनिक कवि निष्क्रिय आध्यात्मिकता की अपेक्षा सक्रिय सामाजिक चेतना को महत्त्व देता है। इस प्रकार देखा जाए तो आधुनिक हिंदी कविता भारतीय ज्ञान-परंपरा की केवल स्मृति नहीं, बल्कि उसकी सक्रिय पुनर्व्याख्या है। यह कविता अतीत के सूत्रों को वर्तमान के संदर्भों में पुनः अर्थ देकर उन्हें जीवंत बनाती है। भारतीय ज्ञान-परंपरा की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि उसने ज्ञान को केवल बौद्धिक प्रक्रिया नहीं माना, बल्कि जीवन के अनुभव, नैतिकता और सामाजिक व्यवहार से जोड़ा। आधुनिक हिंदी कविता इसी दृष्टि को नए सामाजिक संदर्भों में पुनर्परिभाषित करती है। विशेष रूप से आधुनिक समय में जब मनुष्य तकनीकी प्रगति के बावजूद आंतरिक शून्यता, अकेलेपन और नैतिक संकट से गुजर रहा है, तब कवि भारतीय ज्ञान परंपरा के मूल प्रश्नों को पुनः सामने लाता है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में समय को चक्रीय माना गया है, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य निरंतर जुड़े रहते हैं। आधुनिक हिंदी कविता इस दृष्टि को इतिहास-चेतना के रूप में पुनः

अर्थ देती है। आधुनिक कवि अतीत को केवल स्मृति के रूप में नहीं, बल्कि वर्तमान के प्रश्नों को समझने के साधन के रूप में देखता है। इसी संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी कविता में मिथकों की पुनर्व्याख्या भारतीय ज्ञान-परंपरा की सबसे महत्त्वपूर्ण पुनर्पाठ प्रक्रिया है। राम, कृष्ण, बुद्ध, सीता, द्रौपदी जैसे मिथकीय पात्र आधुनिक कविताओं में नए अर्थ ग्रहण करते हैं। वे अब केवल धार्मिक प्रतीक नहीं रहते, बल्कि संघर्ष, प्रतिरोध, न्याय और आत्मसम्मान के प्रतीक बन जाते हैं। छायावाद के कवियों ने भारतीय ज्ञान-परंपरा को आधुनिक संवेदनाओं से जोड़ने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला' की कविता में मिथकीय प्रतीकों की पुनर्व्याख्या इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। उनकी 'राम की शक्ति-पूजा' में राम एक धार्मिक देवता नहीं बल्कि संघर्षशील मनुष्य का प्रतीक बन जाते हैं। यहाँ राम का संकट वास्तव में आधुनिक मनुष्य का संकट है। शक्ति-पूजा आत्मबल और सामाजिक संघर्ष का रूप ले लेती है। यह भारतीय मिथकीय ज्ञान को आधुनिक मानवीय संघर्ष के साथ जोड़ने का सशक्त उदाहरण है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में करुणा को अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। बौद्ध दर्शन में करुणा को मुक्ति का आधार माना गया। आधुनिक हिंदी कविता में यही करुणा सामाजिक संवेदना का रूप ले लेती है। कवि अब केवल आध्यात्मिक मुक्ति की नहीं, बल्कि सामाजिक समानता और न्याय की चिंता करता है। इस संदर्भ में संस्कृत का यह श्लोक उल्लेखनीय है-

"परोपकाराय फलन्ति वृक्षाः

परोपकाराय वहन्ति नद्यः।

परोपकाराय दुहन्ति गावः

परोपकारार्थमिदं शरीरम्॥"

यह श्लोक भारतीय ज्ञान-परंपरा के परोपकार-भाव को व्यक्त करता है। आधुनिक हिंदी कविता इस भाव को सामाजिक उत्तरदायित्व और मानवतावाद के रूप में पुनः प्रस्तुत करती है। इसी प्रकार महादेवी वर्मा की कविता में बौद्ध करुणा और उपनिषदिक आत्म-संवेदना का आधुनिक रूप दिखाई देता है। उनकी प्रसिद्ध पंक्ति- "मैं नीर भरी दु:ख की बदली" केवल व्यक्तिगत पीड़ा की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि समस्त मानवता के दुःख के प्रति करुणा का प्रतीक है। यह करुणा बुद्ध के करुणा-सिद्धांत की आधुनिक व्याख्या है, जिसमें स्त्री अनुभव, अकेलापन और संवेदनात्मक गहराई जुड़ जाती है। भारतीय ज्ञान परंपरा में प्रकृति और मनुष्य के संबंध को अत्यंत घनिष्ठ माना गया है। प्रकृति को माता, मित्र और जीवनदाता के रूप में देखा गया। आधुनिक हिंदी कविता में यह दृष्टि पर्यावरणीय चेतना के रूप में पुनर्जीवित होती है। आज का कवि प्रकृति को केवल सौंदर्य का स्रोत नहीं बल्कि अस्तित्व का

आधार मानता है। वह पर्यावरणीय विनाश को मानवता के संकट के रूप में प्रस्तुत करता है। संस्कृत साहित्य में पृथ्वी-सूक्त की यह पंक्ति-“माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः” आधुनिक कविता में पर्यावरणीय जिम्मेदारी की चेतना के रूप में पुनः प्रकट होती है। आधुनिक कवि इस सूत्र को मानव-केंद्रित दृष्टि से हटाकर पृथ्वी-केंद्रित दृष्टि में परिवर्तित करता है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में प्रकृति को चेतन सत्ता के रूप में देखा गया है। ऋग्वेद में पृथ्वी, वायु, जल और अग्नि को देवत्व प्रदान किया गया है। आधुनिक हिंदी कविता में यह दृष्टि पर्यावरणीय चेतना के रूप में पुनः प्रकट होती है। सुमित्रानंदन पंत की कविताओं में प्रकृति केवल सौंदर्य का विषय नहीं बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति का स्रोत है। उनकी प्रकृति-दृष्टि भारतीय परंपरा के उस विचार को पुनर्जीवित करती है, जिसमें मनुष्य और प्रकृति के बीच सहअस्तित्व का संबंध है। पंत की प्रसिद्ध कविता “पर्वत प्रदेश में पावस” इस दृष्टि को स्पष्ट करती है। कविता में वर्षा के दृश्य का वर्णन करते हुए कवि केवल प्राकृतिक सौंदर्य का चित्रण नहीं करते, बल्कि प्रकृति की जीवंतता और उसकी आध्यात्मिक ऊर्जा को भी व्यक्त करते हैं-

“गिरि के शिखरों पर घिर-घिर आए
मेघों के गंभीर दल,
हँसती हुई वन-लताओं में
जाग उठा नव जीवन पल।”

इन पंक्तियों में वर्षा का दृश्य केवल दृश्यात्मक सौंदर्य नहीं है। यहाँ मेघ, पर्वत और वनस्पति जीवन के नवीनीकरण के प्रतीक बन जाते हैं। प्रकृति की यह शक्ति मनुष्य को भी आंतरिक रूप से नवीकृत करती है। यही कारण है कि पंत की प्रकृति-दृष्टि भारतीय परंपरा के उस विचार को पुनर्जीवित करती है जिसमें प्रकृति को जीवनदायिनी और चेतन सत्ता माना गया है। इसी प्रकार उनकी कविता ‘ग्राम्या’ में प्रकृति और मानव जीवन के घनिष्ठ संबंध को देखा जा सकता है-

“धूल भरे पथ पर चलते किसान,
खेतों में गाती हरियाली,
धरती की ममता से पगा हुआ
जीवन का मधुर उजियाली।”

यहाँ धरती केवल भौतिक भूमि नहीं है, बल्कि ‘ममता’ का स्रोत है। यह दृष्टि भारतीय ज्ञान-परंपरा की उस धारणा से जुड़ती है जिसमें पृथ्वी को माता कहा गया है- “माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः।” पंत की कविता इसी भाव को आधुनिक संवेदनशीलता के साथ पुनः व्यक्त करती है। उनकी काव्य-पुस्तक ‘पल्लव’ की कई कविताओं में प्रकृति आत्मिक अनुभूति का माध्यम बनती है। पंत प्रकृति के माध्यम से मनुष्य को आंतरिक शांति और आध्यात्मिक विस्तार का अनुभव कराते हैं। उदाहरण के लिए-

"व्योम के नील नीर में डूबी
यह स्वप्निल शशि की छाया,
मन के अंतर में जगती
मौन अनंत की माया।"

इन पंक्तियों में प्रकृति का दृश्य मनुष्य के आंतरिक अनुभव से जुड़ जाता है। प्रकृति यहाँ आत्मा की अनुभूति का माध्यम बनती है। आधुनिक कविता में अस्तित्ववादी संकट और आत्म-खोज के संदर्भ में भी भारतीय ज्ञान-परंपरा की पुनर्व्याख्या दिखाई देती है। अज्ञेय की कविताओं में व्यक्ति की आत्म-चेतना, अकेलापन और पहचान की खोज उपनिषदिक आत्म-अन्वेषण का आधुनिक रूप है। उनकी कविताएँ यह दिखाती हैं कि आत्म-ज्ञान केवल आध्यात्मिक अनुभव नहीं बल्कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं को समझने का माध्यम है। अज्ञेय की कविताओं में आधुनिक मनुष्य की आत्म-चेतना, अकेलापन और अस्तित्वगत संकट अत्यंत गहराई से व्यक्त होता है। उनकी काव्य-दृष्टि में व्यक्ति अपने भीतर की पहचान की खोज करता है और यह खोज भारतीय ज्ञान-परंपरा की उपनिषदिक आत्म-अन्वेषण की परंपरा से जुड़ती है। उपनिषदों में 'कोऽहम्?' या 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' जैसे प्रश्न आत्म-ज्ञान की ओर संकेत करते हैं। आधुनिक जीवन की जटिलताओं के बीच अज्ञेय इन्हीं प्रश्नों को नए संदर्भों में पुनः प्रस्तुत करते हैं। अज्ञेय की प्रसिद्ध कविता "नदी के द्वीप" इस संदर्भ में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कविता में कवि मनुष्य की स्थिति को नदी में बने द्वीपों के रूपक के माध्यम से व्यक्त करते हैं-

"हम नदी के द्वीप हैं,
हम नहीं कहते कि हमको छोड़कर स्रोतस्विनी बह जाए,
वह हमें आकार देती है,
हमारे कोण, गलियाँ, अंतरीप, उभार, सैकत-कूल-
सब गोलाइयाँ उसकी गढ़ी हैं।"

इन पंक्तियों में 'नदी' जीवन की व्यापक धारा का प्रतीक है और 'द्वीप' मनुष्य के व्यक्तिगत अस्तित्व का। मनुष्य स्वयं को स्वतंत्र मानता है, परंतु वह जीवन की व्यापक धारा से जुड़ा हुआ भी है। यह रूपक उपनिषदिक दृष्टि की याद दिलाता है जिसमें व्यक्तिगत आत्मा (जीव) और सार्वभौमिक चेतना (ब्रह्म) के संबंध की चर्चा की जाती है। अज्ञेय यहाँ यह संकेत करते हैं कि मनुष्य अपनी पहचान की खोज करते हुए भी जीवन की व्यापकता से अलग नहीं हो सकता। इस प्रकार कविता आधुनिक मनुष्य के अकेलेपन और उसकी आत्म-खोज को एक साथ व्यक्त करती है। अज्ञेय की एक अन्य प्रसिद्ध कविता 'यह दीप अकेला' भी आत्म-चेतना और अस्तित्व की खोज को व्यक्त करती है-

"यह दीप अकेला स्नेह भरा

है गर्व भरा मदमाता,
पर इसको भी पंक्ति को दे दो।"

यहाँ "दीप" व्यक्ति का प्रतीक है, जो अकेला होते हुए भी सामूहिक चेतना से जुड़ना चाहता है। यह प्रतीक आधुनिक अस्तित्ववादी संकट को दर्शाता है, जहाँ व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता और अकेलेपन दोनों का अनुभव करता है। इस प्रकार अज्ञेय की कविताएँ यह स्पष्ट करती हैं कि आत्म-ज्ञान केवल आध्यात्मिक साधना का विषय नहीं है, बल्कि आधुनिक जीवन की जटिलताओं को समझने का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम भी है। उनकी कविता में आत्म-अन्वेषण की यह प्रक्रिया भारतीय ज्ञान-परंपरा के उपनिषदिक चिंतन को आधुनिक अस्तित्ववादी संदर्भों में पुनः अर्थ देती है। भक्ति परंपरा भारतीय ज्ञान-परंपरा का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें प्रेम, समानता और सामाजिक न्याय की चेतना निहित है। आधुनिक हिंदी कविता इस परंपरा को लोकतांत्रिक और राजनीतिक संदर्भों में पुनः अर्थ देती है। दुष्यंत कुमार की कविता में करुणा और भक्ति का भाव सामाजिक प्रतिरोध का रूप ले लेता है। उनकी पंक्तियाँ- "हो गई है पीर पर्वत-सी, पिघलनी चाहिए।" भक्ति-परंपरा के करुणा-भाव को सामाजिक परिवर्तन की शक्ति में रूपांतरित करती हैं। संस्कृत साहित्य में 'ऋत' और 'धर्म' की जो अवधारणा है, वह मूलतः संतुलन और न्याय से जुड़ी है। आधुनिक हिंदी कविता इस अवधारणा को सामाजिक न्याय के संदर्भ में पुनः व्याख्यायित करती है। आज का कवि 'धर्म' को सत्ता या आडंबर से नहीं, बल्कि मनुष्य की नैतिक जिम्मेदारी से जोड़ता है। इस दृष्टि से आधुनिक कविता भारतीय ज्ञान परंपरा को लोकतांत्रिक बनाती है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में धर्म का अर्थ केवल धार्मिक अनुष्ठान नहीं रहा, बल्कि उसे नैतिक कर्तव्य, सत्य के पक्ष में खड़े होने और समाज में संतुलन बनाए रखने की जिम्मेदारी के रूप में समझा गया है। आधुनिक कविता में यह अवधारणा नागरिक जिम्मेदारी और सत्ता-विरोध के रूप में पुनः प्रस्तुत होती है। रघुवीर सहाय की कविताओं में धर्म का अर्थ अन्याय के विरुद्ध खड़ा होना है। इस प्रकार पारंपरिक नैतिक ज्ञान आधुनिक लोकतांत्रिक चेतना में परिवर्तित हो जाता है। इस संदर्भ में रघुवीर सहाय की प्रसिद्ध कविता "आदमी की पहचान" एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है-

"आदमी की पहचान
उसके धन या आसन से नहीं होती,
उसके मन से होती है
कि वह अन्याय के सामने
झुकता है या खड़ा रहता है।"

इन पंक्तियों में कवि यह स्पष्ट करते हैं कि मनुष्य की सच्ची पहचान उसके सामाजिक पद या शक्ति से नहीं, बल्कि उसके नैतिक साहस से होती है। यहाँ 'अन्याय के सामने खड़ा होना' ही वास्तविक धर्म का रूप है। इस प्रकार रघुवीर सहाय की कविता में धर्म की अवधारणा सामाजिक और राजनीतिक चेतना से जुड़ जाती है। धर्म यहाँ किसी धार्मिक कर्मकांड का नाम नहीं, बल्कि नैतिक जिम्मेदारी और सत्य के पक्ष में खड़े होने की चेतना है। यही दृष्टि

आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में नागरिक धर्म (civic responsibility) के रूप में विकसित होती है। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि आधुनिक हिंदी कविता में पारंपरिक नैतिक मूल्यों की पुनर्व्याख्या की जाती है और उन्हें समकालीन सामाजिक संदर्भों- जैसे न्याय, समानता और नागरिक अधिकारों—से जोड़ा जाता है। इस प्रकार रघुवीर सहाय की कविता भारतीय ज्ञान-परंपरा के नैतिक विचार को आधुनिक लोकतांत्रिक चेतना के साथ जोड़ती है। लोकज्ञान भारतीय ज्ञान-परंपरा की जीवंत धारा है। लोकगीत, लोककथाएँ और कहावतें सामूहिक अनुभवों से निर्मित होती हैं। आधुनिक हिंदी कविता इस लोकज्ञान को नए सामाजिक संदर्भ में प्रस्तुत करती है। नागार्जुन की कविता में लोकभाषा और लोकसंवेदना के माध्यम से सामाजिक यथार्थ का सशक्त चित्रण मिलता है। उनकी कविताएँ भारतीय ज्ञान-परंपरा के लोकतांत्रिक स्वरूप को उजागर करती हैं। इस संदर्भ में उनकी प्रसिद्ध कविता "अकाल और उसके बाद" एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस कविता में कवि अकाल की त्रासदी को लोकजीवन की सरल भाषा और प्रतीकों के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं-

"कई दिनों तक चूल्हा रोया,
चक्की रही उदास,
कई दिनों तक कानी कुतिया
सोई उसके पास।"

यहाँ लोकभाषा और लोकजीवन के साधारण चित्र केवल वर्णनात्मक नहीं हैं, बल्कि वे सामाजिक यथार्थ को उजागर करने का माध्यम बन जाते हैं। नागार्जुन की यह काव्य-दृष्टि भारतीय ज्ञान-परंपरा के उस लोकतांत्रिक स्वरूप को प्रकट करती है, जिसमें सामान्य जन के अनुभव और जीवन-संघर्ष को ज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्रोत माना गया है। इस प्रकार नागार्जुन की कविताएँ यह सिद्ध करती हैं कि लोकज्ञान केवल परंपरा की स्मृति नहीं है, बल्कि वह समाज की वास्तविक स्थितियों को समझने और व्यक्त करने का सशक्त माध्यम भी है। उनकी कविता में लोकभाषा, लोकसंवेदना और सामाजिक यथार्थ का समन्वय आधुनिक हिंदी कविता को एक जनोन्मुख और लोकतांत्रिक स्वर प्रदान करता है। आधुनिक हिंदी कविता में इतिहास और समय की अवधारणा भी भारतीय ज्ञान-परंपरा से जुड़ती है। भारतीय दर्शन में समय को चक्रीय माना गया है, जबकि आधुनिकता रेखीय समय पर आधारित है। कुँवर नारायण की कविताओं में इन दोनों अवधारणाओं का समन्वय दिखाई देता है। वे अतीत को वर्तमान के नैतिक प्रश्नों के साथ जोड़कर देखते हैं। इस संदर्भ में उनकी प्रसिद्ध कविता 'अयोध्या, 1992' एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस कविता में कवि प्राचीन अयोध्या और समकालीन भारत की घटनाओं को साथ रखकर इतिहास और वर्तमान के संबंध को समझने का प्रयास करते हैं। कविता की पंक्तियाँ इस प्रकार हैं-

"इतिहास सिर्फ अतीत नहीं होता,
वह हमारे भीतर भी घटता है,
हम जो करते हैं
वही भविष्य का इतिहास बन जाता है।"

इन पंक्तियों में कवि यह संकेत करते हैं कि इतिहास केवल बीती हुई घटनाओं का संग्रह नहीं है, बल्कि वह वर्तमान के नैतिक निर्णयों से निर्मित होता है। यहाँ अतीत और वर्तमान के बीच गहरा संबंध स्थापित होता है। कुँवर नारायण की काव्य-दृष्टि यह भी दिखाती है कि अतीत की घटनाएँ समय के साथ समाप्त नहीं हो जातीं, बल्कि वे वर्तमान की चेतना में जीवित रहती हैं। इस प्रकार उनकी कविता भारतीय दर्शन की चक्रीय समय-दृष्टि और आधुनिक इतिहास-बोध दोनों को एक साथ समाहित करती है। इस उदाहरण से स्पष्ट होता है कि कुँवर नारायण इतिहास को केवल स्मृति के रूप में नहीं देखते, बल्कि उसे नैतिक चेतना के रूप में समझते हैं। उनकी कविता यह संदेश देती है कि वर्तमान में किए गए हमारे कर्म ही भविष्य के इतिहास को निर्धारित करते हैं। इस प्रकार उनकी काव्य-दृष्टि अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच एक गहरा नैतिक और दार्शनिक संबंध स्थापित करती है। स्त्री-दृष्टि के माध्यम से भी भारतीय ज्ञान-परंपरा की पुनर्व्याख्या हुई है। आधुनिक कवयित्रियाँ मिथकीय स्त्री पात्रों को नए अर्थ देती हैं। अनामिका की कविताओं में सीता और द्रौपदी जैसी पात्र आधुनिक स्त्री संघर्ष और आत्म-सम्मान की प्रतीक बन जाती हैं। यह पुनर्पाठ भारतीय परंपरा को स्त्री-स्वतंत्रता के संदर्भ में पुनः अर्थ देता है। इस संदर्भ में उनकी कविता "सीता" का उदाहरण अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस कविता में सीता को पारंपरिक 'त्यागमयी और आज्ञाकारी स्त्री' की छवि से अलग कर एक ऐसी स्त्री के रूप में देखा गया है जो अपने आत्मसम्मान और स्वायत्तता के प्रति सजग है। कविता में सीता का स्वर इस प्रकार उभरता है-

"मैं सीता हूँ,
धरती से जन्मी हूँ
और धरती में समा जाना जानती हूँ;
पर हर बार अग्नि-परीक्षा देने के लिए
मैं जन्म नहीं लेती।"

इन पंक्तियों में सीता का चरित्र पारंपरिक सहनशीलता के प्रतीक से आगे बढ़कर प्रतिरोध और आत्मसम्मान की चेतना का प्रतीक बन जाता है। यहाँ सीता यह संकेत देती है कि स्त्री का अस्तित्व केवल त्याग और परीक्षा तक सीमित नहीं है। इसी प्रकार अनामिका की कुछ कविताओं में द्रौपदी का रूप भी नए अर्थों में सामने आता है। द्रौपदी अब केवल महाभारत की पीड़ित स्त्री नहीं, बल्कि अन्याय के विरुद्ध आवाज उठाने वाली चेतना का प्रतीक बन जाती है। वह अपने अपमान को चुपचाप सहने वाली स्त्री नहीं, बल्कि प्रश्न करने वाली और प्रतिरोध करने वाली स्त्री है। इस प्रकार अनामिका की कविताएँ यह दिखाती हैं कि भारतीय मिथकीय परंपरा के स्त्री पात्रों को आधुनिक संदर्भों में पुनः पढ़ा जा सकता है। यह पुनर्पाठ परंपरा को अस्वीकार नहीं करता, बल्कि उसे नए सामाजिक और वैचारिक संदर्भों में पुनः अर्थ देता है। परिणामस्वरूप सीता और द्रौपदी जैसी पात्र आधुनिक स्त्री संघर्ष, आत्मसम्मान और स्वतंत्रता की प्रतीक बनकर उभरती हैं। संस्कृत के नीति-श्लोकों और दार्शनिक सूत्रों का आधुनिक कविता में नया अर्थ मिलता है। जैसे गीता का श्लोक- "न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।" आधुनिक कवि इसे वैज्ञानिक चेतना, शिक्षा और सामाजिक जागरूकता के रूप में व्याख्यायित करता है। ज्ञान यहाँ आध्यात्मिक मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन का साधन बन जाता है। इस प्रकार आधुनिक हिंदी कविता भारतीय ज्ञान-परंपरा को स्थिर अतीत

के रूप में नहीं बल्कि गतिशील और जीवंत परंपरा के रूप में देखती है। यह कविता अतीत के ज्ञान को वर्तमान के संकटों के साथ संवाद में लाकर नए अर्थों का सृजन करती है।

आधुनिक हिंदी कविता में भारतीय ज्ञान-परंपरा की पुनर्व्याख्या को यदि समग्र दृष्टि से देखा जाए तो यह स्पष्ट होता है कि यह प्रक्रिया केवल साहित्यिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्सृजन का रूप है। यह पुनर्व्याख्या अतीत और वर्तमान के बीच संवाद स्थापित करती है तथा ज्ञान को स्थिर विरासत के बजाय गतिशील चेतना के रूप में प्रस्तुत करती है। दार्शनिक स्तर पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी कविता भारतीय ज्ञान-परंपरा के तीन मूल तत्त्वों-समग्रता, अनुभव-आधारित सत्य और नैतिक चेतना को आधुनिक संदर्भों में पुनः परिभाषित करती है। समग्रता की दृष्टि आधुनिक कविता में बहुलता और सहअस्तित्व के सिद्धांत के रूप में प्रकट होती है। अनुभव-आधारित सत्य आधुनिक कविता में व्यक्तिगत संवेदना और सामाजिक यथार्थ के समन्वय के रूप में दिखाई देता है। नैतिक चेतना आधुनिक कविता में मानवतावाद और सामाजिक न्याय की आकांक्षा के रूप में पुनः स्थापित होती है। शोधपरक दृष्टि से यह निष्कर्ष महत्त्वपूर्ण है कि आधुनिक हिंदी कविता में भारतीय ज्ञान-परंपरा का पुनर्पाठ केवल सांस्कृतिक पुनरावृत्ति नहीं, बल्कि आलोचनात्मक पुनर्सृजन है। आधुनिक कवि परंपरा को यांत्रिक रूप में स्वीकार नहीं करता, बल्कि उसे प्रश्नों, संशयों और अनुभवों के माध्यम से पुनः अर्थ देता है। यही प्रक्रिया भारतीय ज्ञान-परंपरा की जीवंतता को बनाए रखती है। अंततः यह कहा जा सकता है कि आधुनिक हिंदी कविता भारतीय ज्ञान-परंपरा की निरंतरता और परिवर्तनशीलता दोनों को एक साथ व्यक्त करती है। यह कविता यह सिद्ध करती है कि परंपरा केवल अतीत की स्मृति नहीं, बल्कि वर्तमान की रचनात्मक शक्ति और भविष्य की संभावनाओं का आधार है। इस प्रकार आधुनिक हिंदी कविता भारतीय सांस्कृतिक चेतना के विकास में एक सेतु का कार्य करती है, जो ज्ञान, संवेदना और सामाजिक परिवर्तन के बीच संतुलन स्थापित करती है। भारतीय ज्ञान-परंपरा में जीवन को समग्र रूप से देखने की जो दृष्टि है, वही आधुनिक हिंदी कविता में समकालीन जीवन के विविध अनुभवों को जोड़ने वाली शक्ति बनती है। आधुनिक कवि अतीत और वर्तमान, परंपरा और आधुनिकता, व्यक्ति और समाज, प्रकृति और संस्कृति के बीच संवाद स्थापित करता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी कविता भारतीय ज्ञान-परंपरा की केवल उत्तराधिकारी नहीं, बल्कि उसकी सक्रिय पुनर्व्याख्याकार है। वह परंपरा को स्थिर रूप में नहीं स्वीकारती, बल्कि उसे जीवंत और परिवर्तनशील प्रक्रिया के रूप में देखती है।

संदर्भ सूची-

1. अज्ञेय. संचिता. नई दिल्ली: भारतीय ज्ञानपीठ, 2012. ISBN: 9788126305712.
2. अनामिका. खुरदुरी हथेलियाँ. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2011. ISBN: 9788181435560.
3. केदारनाथ सिंह. आधुनिक हिंदी कविता में बिम्ब विधान. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 2004. ISBN: 9788170553077
4. कुँवर नारायण. कोई दूसरा नहीं. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2008. ISBN: 9788126719595.

5. नागार्जुन. नागार्जुन रचनावली (भाग-1). नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2003. ISBN: 9788126714279.
6. नामवर सिंह. कविता के नए प्रतिमान. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन, 1997. ISBN: 9788181432101.
7. रामविलास शर्मा. भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2008. ISBN: 9788126706038.
8. रघुवीर सहाय. रघुवीर सहाय रचनावली. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन, 2005. ISBN: 9788126715153.
9. महादेवी वर्मा. महादेवी वर्मा रचनावली. नई दिल्ली: लोकभारती प्रकाशन, 2007. ISBN: 9788180311964.
10. विश्वनाथ त्रिपाठी. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास. नई दिल्ली: एनसीईआरटी, 2010. ISBN: 9788174504945
11. भगवद्गीता. गोरखपुर: गीता प्रेस, 2016. ISBN: 9788175970152.
12. उपनिषद (संस्कृत-हिंदी अनुवाद). गोरखपुर: गीता प्रेस, 2015. ISBN: 9788175970305.

हिन्दी दलित आत्मकथाओं में बाल जीवन की अभिव्यक्ति

डॉ. तरुण कुमार
हर्ष विहार, दिल्ली
संपर्क सूत्र- 9560836978/8178401687
ईमेल- talk2tarun89@gmail.com

हिंदी साहित्य में सर्वप्रथम आत्मकथा जैन कवि बनारसीदास की 'अर्धकथानक' मानी जाती है। उसके उपरांत रामविलास शर्मा की 'मेरी जीवन यात्रा', भारतेन्दु की 'कुछ आप बीती कुछ जगबीती', श्यामसुंदर दास की 'मेरी आत्मकहानी' आदि आत्मकथाएँ हैं। सत्तर के दशक में उभरने वाले कई महत्त्वपूर्ण विमर्शों में दलित विमर्श भी साहित्य के एक क्षेत्र के रूप में साहित्यिक दुनिया के सामने आया। हालांकि साहित्यिक दुनिया में अपना स्थान निर्धारित करने में काफी वक्त लगा किन्तु आज दलित साहित्य इतना लोकप्रिय और सक्षम साहित्य है कि हिंदी साहित्य में उसका अपना विशेष स्थान है। दलित साहित्य में कविता, कहानी, उपन्यास, आत्मकथा आदि विधाएँ समाहित हैं जिसमें सबसे महत्त्वपूर्ण दलित आत्मकथाएँ हैं। दलित आत्मकथाएँ भारतीय समाज का एक ऐसा चेहरा सभी के सम्मुख प्रस्तुत करती हैं। जिसमें दलित वर्ग का शोषण, दमन, अत्याचार और सभी मानवाधिकारों से वंचित आदि दलित साहित्य में दिखाई देता है। दलित आत्मकथाओं में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक आदि पक्षों में वंचित वर्ग की समस्याओं को देखा जाता है।

दलित साहित्य में सर्वप्रथम आत्मकथा मराठी भाषा में बाबा साहब अम्बेडकर ने 'मी कसा झालो' (मैं कैसे बना) लिखी थी। संभवतः जिससे प्रभावित होकर दलित साहित्य में आत्मकथाओं का दौर उभर कर सामने आया। और मराठी में आत्मकथाएँ जैसे- लिंबाले की 'अक्करमाशी', दया पवार की 'अछूत', लक्ष्मण माने की 'पराया', बेबी कांबले की 'जीवन हमारा', लक्ष्मण गायकवाड़ की 'उचक्का' आदि उभर कर सामने आई हैं। इससे प्रभावित होकर हिंदी भाषा में दलित आत्मकथाओं का विकास प्रारम्भ हुआ। वर्तमान समय में हिंदी भाषा में कई आत्मकथाएँ लिखी जा चुकी हैं। जैसे- नैमिशराय की 'अपने अपने पिंजरे भाग I-II', ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन', डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', सूरजपाल चौहान की 'तिरस्कृत', माताप्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन तक', कौशल्या बैसंती की 'दोहरा अभिशाप', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द', डॉ. तुलसीराम की 'मुर्दहिया और मणिकर्णिका' आदि आत्मकथाएँ दलित साहित्य में विद्यमान हैं।

दलित आत्मकथाओं में बाल जीवन एक महत्त्वपूर्ण पक्ष है जिसमें जीवन की कई समस्याओं से लेखक बाल्यावस्था से ही रू-ब-रू होता रहा है। बाल्यावस्था से ही वह शोषण और अत्याचार को अपने जीवन में अनुभूत करता है। जो उसकी जीवनचर्या को प्रभावित करते हैं। तथा उसके भावी जीवन के रूप व व्यवहार का निर्धारण करते

हैं इस पक्ष को स्पष्ट करते हुए वाटसन का कहना था कि "किसी व्यक्ति का व्यवहार उसकी भीतरी और निजी अनुभूतियों पर आधारित नहीं होता। वह अपने माहौल से निर्देशित होता है। मानसिक स्थिति का पता लगाने के लिए किसी बाह्य उत्प्रेरक के प्रति व्यक्ति की अनुक्रिया का प्रेक्षण करना ही काफ़ी है।" प्रस्तुत पंक्ति में वाटसन ने स्पष्ट किया है कि किसी भी व्यक्ति का व्यवहार उसकी भीतरी और बाह्य अनुभूतियों से नहीं अपितु उसके आस-पास के वातावरण और सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और राजनीतिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है।

बाल जीवन का मनोवैज्ञानिक पक्ष जब सामने आता है। तब आर्यन विकास इस संदर्भ में कुछ इस प्रकार से कहते हैं- "बाल मनोविज्ञान, मनोविज्ञान की एक शाखा के रूप में विकसित हुआ है। इसके अंतर्गत बालकों के व्यवहार, स्थितियों, समस्याओं तथा उन सभी कारणों का अध्ययन किया जाता है। जिसका प्रभाव बालक के व्यवहार विकास पर पड़ता है, वर्तमान समय में, अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, आर्थिक कारक आदि मनुष्य तथा उसके परिवेश को प्रभावित कर रहे हैं। परिणामस्वरूप बालक, जो भावी समय की आधारशिला होता है, प्रभावित होता है।"[1] प्रस्तुत कथन से स्पष्ट होता है कि बाल जीवन में बहुत सी समस्याएँ भरी पड़ी हैं जहाँ बालक बाल्यावस्था में ऐसी परिस्थितियों से जूझता है पर विरोध और प्रतिरोध नहीं करता। फिर भी उनमें प्रतिरोध के भाव उमड़-उमड़ कर दृष्टिगत होते हैं। इसी प्रकार आर्यन विकास अपनी एक और पंक्ति में कहते हैं कि- "मनोविज्ञान की ये परिभाषायें जीवित प्राणी के व्यवहार का अध्ययन, व्याख्या, उन पर पड़ने वाले प्रभाव आदि सभी का अध्ययन करती है। मनोविज्ञान, चूंकि मानव व्यवहार का अध्ययन करता है तो वह उन सभी तथ्यों, घटकों का भी अध्ययन करता है जो मानव व्यवहार को प्रभावित करते हैं।"[2] प्रयुक्त बात से आर्यन विकास ये स्पष्ट करते हैं कि मनोविज्ञान में मानव स्वयं के जीवन को प्रभावित करने वाले सभी तथ्य और घटकों का अध्ययन करता है जिनसे मानव का सम्पूर्ण जीवन परिवेश और व्यवहार प्रभावित होता है अब चाहे वह बाल्यावस्था, प्रौढ़ावस्था या वृद्धावस्था ही क्यों न हो। यही वह कारण है जो मनुष्य के बाल्य जीवन में मनोविज्ञान के भाव उभारते हैं। दलित आत्मकथा में भी बाल्य जीवन का वही मनोवैज्ञानिक पक्ष दिखाई देता है।

जैसा कि हम जानते हैं दलित आत्मकथाओं में बाल-जीवन में समस्याओं का उल्लेख देखने को मिलता है। ये आत्मकथाएँ बाल्य जीवन से चलकर प्रौढ़ावस्था तक पहुँचती हैं। जहाँ ये जीवन के अच्छे और कटु अनुभवों का उल्लेख सहज भाव से करती हैं। बाल्य-जीवन में समाज से प्राप्त अनुभव एक बालक की मनोदशा निर्धारित करते हैं। आर्यन विकास अपनी पुस्तक 'बाल विकास तथा मनोविज्ञान' में इस प्रकार बाल मनोभावों को व्यक्त करते हैं- "छोटा बच्चा सामाजिक परिस्थितियों को समझने के योग्य नहीं होता और इस कारण वह परिस्थिति का विश्लेषण नहीं कर सकता।"[3] उक्त पंक्ति में उन्होंने बाल्य जीवन में सामाजिक परिस्थितियों के योगदान को दर्शाया है जहाँ लेखक का मानना है कि सामाजिक परिस्थितियों को छोटा बच्चा समझने योग्य नहीं होता। इस कारण वह उनसे उपजी परिस्थितियों को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। दलित आत्मकथाओं में बालक समाज में रहकर कभी रोजमर्रा

की वस्तुओं के लिए और कभी समाज में स्वयं के अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है। जहाँ उसे ऐसा प्रतीत होता है कि उसने शायद ऐसे समाज में जन्म लिया है जिसे समाज में कोई भी अधिकार प्राप्त नहीं है। वह अपने अधिकारों का हनन चुपचाप, बिना विरोध सहता रहता है। वह अपने साथ के अन्य बालकों के साथ मित्रता नहीं कर सकता क्योंकि उच्च वर्ण के लोग अपने बच्चों के मन में ऊंच-नीच, जात-पात का ऐसा जहर घोल देते हैं। तभी तो एक बालक दूसरे बालक से मिलना और मित्रता करना नहीं चाहता और वे अपने साथी बालकों से अछूतों सा व्यवहार करते हैं, उनका शोषण करते हैं, उनका छोटी जाति में जन्म लेने के कारण, उनके साथी उन्हें जाति सूचक शब्द से संबोधित कर, उनका उपहास उड़ाते हैं। नैमिशराय अपनी ने आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' में बाल जीवन पर अपनी बात इस प्रकार को रखते हैं-

“हम चमार हैं।” बा बोला।

“पर क्या चमार हिंदू नहीं होते ?” मैंने फिर पूछा था। बा ने जवाब देने के पूर्व पलभर मेरी ओर देखा था, फिर कहा- “चमार चमार होते हैं। न हिंदू न मुसलमान।”[4]

उक्त पंक्ति में वे बाल जीवन में जाति भेद की समाज पैठ को दर्शाते हैं। वे कहते हैं कि बाल्यावस्था में भेदभाव की व्यवस्था पिता के जवाब में 'चमार चमार होता है न उसकी गिनती हिन्दू में आती है न मुसलमान में वह आते हैं। ऐसी ही स्थिति उनकी एक और पंक्ति में देखी जा सकती है- “पीढ़ी-दर-पीढ़ी हम गुलाम थे। इधर माँ बच्चा जनती और उधर पैदा होने वाले बच्चे के माथे पर उसकी जात लिख दी जाती। उसे उसकी जात की पहचान से रू-ब-रू करा दिया जाता।”[5] इन पंक्तियों में वे बालक के जन्म से ही उसके माथे पर उसकी जाति लिख दी जाती थी। मुत्यु तक वही जाति अब उसकी पहचान थी। श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में कहते हैं कि- “बालश्रम मेरे होश संभालते ही पिता की मौत के बाद मेरे पीछे बीमारी की तरह लग गया था। मेरे श्रम और शोषण का लाभ गैर-दलितों खासकर यादवों ने तो उठाया ही, थोड़े समर्थ जाटवों और मुसलमानों ने भी कसर नहीं छोड़ी। फर्क इतना था कि जाटव काम के साथ वैसी छूत-छात नहीं बरतते थे जैसी यादव और मुसलमान बरता करते थे। असल में यहाँ के मुस्लिम तेलियों का भी हिंदूकरण हो गया था।”[6] उक्त कथन में लेखक ये व्यक्त करना चाहते हैं कि जाति का भेद किस प्रकार से बालक के जीवन में विद्यमान है। जहाँ दलित होने का लाभ गैर-दलित वर्ग ने भी उठाया जिनमें यादव, जाटव और मुस्लिम आदि प्रमुख रूप से हैं।

दलित आत्मकथाओं में बाल्य-जीवन ऐसे कई कटु अनुभवों के साथ नियमित चलता रहता है। परंतु विरोध नहीं करता, अगर विरोध करें तो उसे और उसके परिवार को समाज से और गाँव से बहिष्कृत कर दिया जाता। इस भय के चलते वे कुछ नहीं कहते और प्रतिरोध की चेतना दिन-ब-दिन उभरती रहती है। नैमिशराय 'अपने अपने पिंजरे' में बाल जीवन की समस्या को इस प्रकार संदर्भित करते हैं- “गाँव गाँव था। वहाँ शहर जैसा कुछ भी न था। न पक्की

सड़के, न पक्के मकान। छोटे-छोटे कच्चे घर थे पर जातियों की पक्की रेखाओं में विभाजित थे। मैं बहुत जल्दी ही गाँव के भूगोल के साथ जातियों की बनावट को समझ गया था। माँ ने कई बार बतलाया था। उत्तर की ओर बामनो के घर थे। उनके पीछे गुज्जर, फिर उनका कुआँ, दूसरी तरफ कायस्थ, उनके साथ ही बनियों के दो-चार घर। पर दलितों की बस्ती में न कुआँ था और न कोई हैंडपंप। गाँव के किनारे पर तालाब था। वहीं से पानी लाना होता था।"[7] उक्त पंक्तियों में बालक के मन में उभरती जाति भेद की दशा का उल्लेख उन्होंने किया है। वे कहते हैं कि गाँव में जाति आधारित घरों के निवास थे और उसी आधार पर कुएँ आदि। लेकिन दलित वर्ग की बस्ती में पीने के पानी के कुएँ और हैंडपंप आदि तक नहीं थे।

दलित आत्मकथाओं के बाल्य जीवन में एक प्रश्न भय भी है। जो बाल्य जीवन की मनोदशा को वर्णित कर देता है। बालक नाजुक और कोमल स्वभाव के होते हैं। उन्हें जिस साँचे में भी ढालो वे ढल जाते हैं। बालक को किसी भी साँचे में चाहे आसानी से मोड़ सकते हैं। क्योंकि बालक नादान और नासमझ होते हैं। उन्हें अच्छे बुरे की समझ नहीं होती है जिस कारण उन्हें कोई भी किसी भी रास्ते पर सरलता से चला सकता है। इसलिए बाल्य जीवन में समाज से उत्पन्न होती परिस्थितियाँ, उसमें भय की स्थिति पैदा कर देती हैं और यह भय की स्थिति हमेशा बनी रहती है। जो वह समाज में स्थित रूढ़ियों और भेदभाव के कारण महसूस करता है। जिसमें वह स्वयं को अकेला महसूस करता है। बाल्य जीवन में केन्द्रित भय के बारे में आर्यन विकास ने कुछ इस प्रकार कहा है- "भय का आधार बालक का अनुभव होता है। कभी-कभी बच्चे भय से परिचित नहीं होते और वे व्यर्थ की चिंता में पड़ जाते हैं। अप्रिय घटनायें भी भय की उत्पत्ति करती है।"[8] उक्त कथन से स्पष्ट होता है कि अप्रिय घटनाओं के कारण बालक व्यर्थ की चिंता में पड़ जाता है जिससे वह स्वयं को सभी के सम्मुख असहाय पाता है और यह अप्रिय घटनाएँ बालक के मन में भय की स्थिति पैदा करती हैं।

ऐसी ही भय की स्थिति के बारे में डॉ. तुलसीराम अपनी आत्मकथा 'मुर्दहिया' में इस प्रकार अभिव्यक्त करते हैं- "एक बेर खाते खाते उसका बीज भी अचानक घोंट लिया। साथ ही बेर खा रहे मुल्कू ने जब बेर का बीज घोटते हुए देखा, तो तुरंत उन्होंने अन्य बच्चों से कहना शुरू कर दिया कि इसने (मैंने) बेर का बिया (गुठली) घोंट लिया है और अब इसके पेट को फाड़कर बेर का पेड़ निकलेगा। इतना सुनते ही अन्य बच्चे भी इस 'सत्य' को दोहराने लगे। डर के मारे मैं बेहाल हो गया। कई दिनों तक पेट से पेड़ निकलने की आशंका से ग्रस्त होकर ठीक से सो नहीं सका। डर के मारे घर में भी किसी से कुछ न बताया। चुपके से चमरिया माई को धार और पुजौरा चढ़ाने की मनौती माना और विनति की कि हे चमरिया माई। उस सम्भावित पेड़ को पेट में नष्ट कर दें।"[9] प्रस्तुत पंक्तियों में डॉ. तुलसीराम ने बाल्य जीवन की वह मनोदशा दर्शायी है। जहाँ बेर का बीज निगलने के पश्चात् बालक भयभीत होता है कि अब उसके पेट से पेड़ निकाल आएगा। इसलिए वह घर में किसी को भी नहीं बताता और अकेले में चमारिया माई की आराधना में लग जाता है। ताकि पेट से बेर का पेड़ का न निकले। इसी प्रकार मोहनदास नैमिशराय भी अपनी

आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' की एक पंक्ति में कुछ इस प्रकार से बालक की मनोदशा दर्शाते हैं- "मंदिर और सवर्णों के लिए हम शूद्र थे। हम मंदिर में घुस न जायें शायद यही सोचकर मंदिर की चारदीवारी बनवाई थी। उसी चारदीवारी के बीच में दो दरवाजे थे जो शाम होने के बाद बंद कर दिये जाते थे। सवर्ण जाति के लोग मंदिर की सुरक्षा के हर संभव प्रयास किया करते थे। मंदिर के साथ मंदिर की संस्कृति उन्हें विरासत में मिली थी।"[10] इस पंक्ति में नैमिशराय स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार गाँव में स्थित मंदिर की दीवारें सवर्ण जाति के लोगों ने इतनी ऊंची बनवाई थीं ताकि कोई दलित मंदिर में प्रवेश ना कर सके। मानो उस मंदिर पर सिर्फ उनका ही अधिकार हो। डॉ. तुलसीराम अपनी आत्मकथा की एक पंक्ति में बाल्य मनोदशा को कुछ इस प्रकार से व्यक्त करते हैं- "दादी यह भी कहती थी कि महामारी में मरने वाली औरतें नागिन बनकर घूमती है। उनके काटने से कोई भी जिन्दा नहीं बचता। दादी मुझे अक्सर याद दिलाती कि किसी झाड़ी-झंखार से गुजरते हुए 'जै राम जमेदार' जरूर दोहराते जाना। ऐसा कहने से नाग-नागिन भाग जाते हैं। मैं दादी की सारी बातों को इस धरती का अकाट्य अंतिम सत्य मानता था। इसलिए अक्षरशः उसका पालन करता था।"[11] प्रस्तुत पंक्ति से यह स्पष्ट होता है कि बालक मन कितना निर्मम होता है जिसमें किसी बात का भय आसानी से पैठ कर जाता है। दादी के महामारी से मरने वाली औरतों के नागिन बनने की बात से भय की स्थिति बनना और दादी का बालक को उससे बचाव के लिए एक मंत्र का जाप करना, जिससे वो उसके निकट न आए। ऐसी रूढ़ियों के बारे में बताने का प्रयास किया है जहाँ बालक उन सब बातों को सत्य मानता है जिससे उसका भय बना रहता है। श्यौराज सिंह बेचैन अपनी आत्मकथा 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में इस बात को कुछ इस प्रकार से संदर्भित करते हैं- "मेरे घर सहित पूरे चमरियाने में दारूबाजी का चलन तो दूर नशीले पदार्थों का नामोनिशान तक नहीं था। परंतु कुछ भूत-देवता सयानों पर आते थे, तो दारू माँगते थे। अपेक्षाकृत सम्पन्न सवर्ण महिलाएं इन सयाने-ओझाओं की असहमति बढ़ाती थीं। खास कर बांझ बनैनियाँ, मुसलमानियाँ और अहिरियाँ इन सयानों से बेटा माँगा करती थी।"[12] प्रस्तुत पंक्ति में रूढ़ि के रूप में विद्यमान भय को दर्शाया है। जिसका साक्षात्कार बालक श्यौराज ने बाल्यावस्था में अनुभूत किया। जहाँ भूत-देवता सयानों पर आते थे और चढ़ावें में दारू माँगते थे। इस चलन को सवर्ण महिलाओं द्वारा बढ़ावा दिया जाता था। इस सत्य को उन्होंने प्रस्तुत उद्धरण में मानवीय रूढ़ि के रूप देखा है। नैमिशराय इसी प्रकार अपनी एक पंक्ति में बाल मनोवैज्ञानिक दशा को दर्शाते हैं- "एक दिन प्रसाद देते हुए पुजारी की अंगुलियाँ मेरे हाथ से छू गईं। बस पुजारी का पारा चढ़ गया। नाराज होते हुए वह झल्लाया- "तू चमार का है न। सब कुछ भरस्ट कर दिया। कितनी बार कहा तुम ढोरों से प्रसाद दूर से लिया करो।"[13] उक्त पंक्ति में यह स्पष्ट होता है कि किस प्रकार पुजारी दलित बालक को प्रसाद देते वक्त छूने पर से डांट देता है तू चमार का लड़का है ना, तूने मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया। कितनी बार तुम अछूतों से कहा की प्रसाद दूर से लिया करो। ऐसी क्रूर भाषा का प्रयोग एक पुजारी द्वारा किया जाना इस बात का प्रतीक है कि एक बालक को उसकी जाति के आधार पर प्रताड़ित किया जाना, दुर्व्यवहार की श्रेणी में आता है।

दलित आत्मकथाओं में एक प्रश्न और है शिक्षा की कमी का। जो सामाजिक आर्थिक और धार्मिक आदि परिस्थितियों के कारण देखने को मिलती है। दलित आत्मकथाओं में चित्रित शिक्षा का स्तर उतना अच्छा नहीं था। अब चाहे वह स्वतन्त्रता से पहले या स्वतन्त्रता पश्चात्, ऐसी परिस्थितियाँ थीं अगर दलित बालक विद्यालयों में शिक्षा भी पाते थे तो उन्हें कक्षा में ब्राह्मणवादी मानसिकता का सामना करना पड़ता था। वो कक्षा में कभी गुरु द्वारा या कभी साथी छात्रों द्वारा शोषित और प्रताड़ित किए जाते। अध्यापक द्वारा कक्षा में उन्हें एक कोने में बिना टाट पट्टी, दरी के जमीन पर बैठना पड़ता था। उन्हें रोजाना कक्षा में नई-नई समस्याओं और यातनाओं का सामना करना पड़ता था। जिसकी कल्पना उन्होंने कभी नहीं की होगी। ऐसा सिर्फ इसलिए होता था। क्योंकि वे नीची जाति से संबंध रखते थे। उन्हें पानी पीने के लिए अन्य सवर्ण बच्चों पर निर्भर होना पड़ता था। क्योंकि उन्हें पानी पीने के घड़ों से स्वयं पानी पीने का अधिकार तक भी न था। अगर कोई सवर्ण बालक उन्हें पानी पीला देता तो ही वो पानी पी पाते थे वरना वे पूरे दिन प्यासे ही रहते थे। ऐसी ही कई समस्याओं का वर्णन दलित आत्मकथाओं में वर्णित किया गया है। जो बाल जीवन की समस्याओं का उल्लेख करती है। ऐसी ही शिक्षा आधारित समस्या का उल्लेख नैमिशराय अपनी आत्मकथा 'अपने अपने पिंजरे' की इस पंक्ति में करते हैं- "हमारी पढ़ाई-लिखाई, प्रगति से उन्हें कुछ लेना-देना नहीं था। हम उनकी नजरों में घटिया लोग थे। हमारी जात की औरतों को तो उनके द्वारा बार-बार जलील होना पड़ता था कभी-कभी वे ऐसा भी सोचते थे कि हम उनके रहमो-करम पर जिंदा हैं।"[14] प्रस्तुत पंक्ति में वे स्पष्ट करते हैं कि किस प्रकार सवर्ण वर्ग के लोगों का दलित वर्ग के समाज की शिक्षा से कोई लेना देना नहीं था। क्योंकि वे दलित समाज को सिर्फ घृणित नजरों से देखते थे और उन्हें उन पर आश्रित समझते थे। ऐसी बात का उल्लेख 'मुर्दहिया' में डॉ. तुलसीराम कुछ इस प्रकार करते हैं- "इसके बाद दूसरा पाठ पढ़ाया गया कि पेशाब लगने पर खड़ा होकर दाएँ हाथ की सबसे छोटी उंगली दिखाना। शुरू शुरू में अधिकतर बच्चे 'उपस्थित' शब्द का उच्चारण नहीं कर पाते थे जिस पर मुंशी जी अविलम्ब गालियों की बौछार कर देते थे। विशेषकर, दलित बच्चों को वे 'चमरकिट' कहकर अपना गुस्सा प्रकट करते।"[15] उक्त पंक्तियों में वे बताते हैं कि किस प्रकार गुरु भी उनका कक्षा में शोषण करते थे। उन्हें 'चमरकीट' जाति सूचक शब्द से संबोधित करके पुकारते थे। उपरोक्त कथनों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय दलित वर्ग के बालकों के लिए शिक्षा ग्रहण करना अत्यंत कठिन कार्य था।

समाज में शिक्षा सवर्ण जाति को ही मिलती थी। शिक्षा प्राप्त करने के लिए कक्षा में दलित वर्ग के बालक को जो मानसिक प्रताड़ना मिलती थी। वो उनके मन को अंदर तक कचोट देती थी। परंतु उनका लक्ष्य इतना था कि शिक्षा प्राप्त कर वे जाति भेद की रूढ़ि को तोड़ सकें। ताकि समाज में उन्हें वो अधिकार मिले इसलिए वे शिक्षा के मार्ग पर अडिग रहते थे। इस संदर्भ में आर्यन विकास अपनी इस पंक्ति में बालक के मनोविज्ञान के बारे में कुछ इस प्रकार कहते हैं- "बालक में ऐसी बातों, आदतों एवं संस्कारों का विकास होना चाहिये जोकि उसके सामाजिक तथा वैयक्तिक जीवन को प्रभावित कर सकें।"[16] उक्त पंक्ति में वे स्पष्ट करते हैं कि बालक में ऐसे गुणों और संस्कारों का

उदय होना चाहिए जिससे समाज और उनके व्यक्तित्व का निर्माण हो सके। परंतु दलित आत्मकथाओं में इसके विपरीत समाज और बाल्य जीवन का उल्लेख देखने को मिलता है। श्यौराज सिंह बेचैन अपनी इस पंक्ति में बाल्य जीवन की एक विपरीत दशा का उल्लेख करते हैं- "मैंने जब पूरी लय, तल्लीनता और भाव-विभोर होकर रामचरितमानस का एक उपखण्ड पढ़ा तो लोग प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सके। मुझे इसका अंदाजा तब लगा जब लछमन बनिए की पत्नी जो हम सभी चमार-भंगियों के बच्चों को जंगली जानवरों के बच्चों की तरह दूर-दूर हट कहती थीं, उस दिन के बाद मुझे दुकान में भीतर बुलाने लगीं। चारपाई पर बिठाने लगी और उधार-पानी भी देने लगीं।"[17] प्रस्तुत पंक्ति में बेचैन स्पष्ट करते हैं कि बाल्य जीवन में जब उन्होंने रामचरितमानस का एक उपखंड पढ़कर सुनाया तो वहाँ बैठे लोग उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। बनिए की पत्नी जो कल तक उनका शोषण चमार-भंगियों के बच्चे दूर रहा करो। आज वही स्त्री उन्हें अपनी चारपाई पर बैठाने लगी।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि दलित आत्मकथाओं में बाल जीवन की अभिव्यक्ति उनकी मनोवैज्ञानिक दशा से पता चलती है जो सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और धार्मिक आदि परिस्थितियों के कारण बाल जीवन को प्रभावित करती है। इन आत्मकथाओं में मोहनदास नैमिशराय की 'अपने अपने पिंजरे', डॉ. तुलसीरम की 'मुर्दहिया' तथा श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' में बाल्य जीवन कितना संघर्षमय रहा है। जिसको देखने के पश्चात् यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि अन्य आत्मकथाओं में भी बाल्य जीवन इसी प्रकार संघर्ष करता प्रतीत होता है। बाल्य जीवन में मनोविज्ञान बालक के मन की दशा पर आधारित होता है। जहाँ बालक समाज से जो भी सकारात्मक या नकारात्मक अनुभूति प्राप्त करता है। वह उसे जीवन भर स्मरित रखता है। दलित आत्मकथाओं में वैसी ही ब्राह्मणवादी सोच का उल्लेख मिलता है जो अत्याचार, यातनाएँ और शोषण आदि से भरी हुई है। ऐसी भयावह स्थितियों को एक अबोध बालक के लिए भूलना मुश्किल है। इसी कारण दलित आत्मकथाओं के बाल जीवन में मनोवैज्ञानिक पक्ष सुगढ़ और सक्षम है।

संदर्भ सूची-

1. विकास, आर्यन. (2016). बाल विकास तथा मनोविज्ञान. नई दिल्ली : वंदना पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या- 42
2. विकास, आर्यन. (2016). बाल विकास तथा मनोविज्ञान. नई दिल्ली : वंदना पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या- 41
3. विकास, आर्यन. (2016). बाल विकास तथा मनोविज्ञान. नई दिल्ली : वंदना पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या- 94
4. नैमिशराय, मोहनदास. (2018). अपने अपने पिंजरे. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 51
5. नैमिशराय, मोहनदास. (2018). अपने अपने पिंजरे. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 17
6. बेचैन, श्यौराज. सिंह, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, (पृ.-163)
7. नैमिशराय, मोहनदास. (2018). अपने अपने पिंजरे. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 26
8. विकास, आर्यन. (2016). बाल विकास तथा मनोविज्ञान. नई दिल्ली : वंदना पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या- 89

9. डॉ. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2016, (पृ.- 45)
10. नैमिशराय, मोहनदास. (2018). अपने अपने पिंजरे. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 27
11. डॉ. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2016, (पृ.-42)
12. बेचैन, श्यौराज सिंह, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, (पृ.-15)
13. नैमिशराय, मोहनदास. (2018). अपने अपने पिंजरे. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 31
14. नैमिशराय, मोहनदास. (2018). अपने अपने पिंजरे. नई दिल्ली : वाणी प्रकाशन. पृष्ठ संख्या- 18
15. डॉ. तुलसीराम, मुर्दहिया, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, संस्करण-2016, (पृ.-24)
16. विकास, आर्यन. (2016). बाल विकास तथा मनोविज्ञान. नई दिल्ली : वंदना पब्लिकेशन. पृष्ठ संख्या- 91
17. बेचैन, श्यौराज सिंह, मेरा बचपन मेरे कंधों पर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2009, (पृ.-304)

Chitra

Scholar, Sociology
Dr. B. R. Ambedkar University Delhi
Email- chitra9810@gmail.com
Contact- 9560793795

Beyond Retirement: Employment Among Older Adults in India

Abstract

This paper explores workforce participation among India's elderly population, building upon literature review and data analysis from secondary sources, including LASI 2020, NSO 2021, and UNFPA 2023. The paper focused on various factors influencing elderly participation in the labour force, such as gender, education, health, rural-urban, and formal-informal sector disparities. The study highlights that extended work life among older adults in India is not a uniform experience but varies across social and economic groups. Gender, place of residence and educational differences shape the possibility and nature of workforce participation in later life. Findings revealed gender disparity in the workforce, with elderly men participating at a three times higher rate than elderly women. Rural-urban disparity: the urban elderly workforce participation rate decreasing while it remains stable in rural areas. Most elderly are employed in the informal sector, which unfortunately lacks social security or retirement benefits. Although government schemes exist, such as the Indira Gandhi National Old Age Pension Scheme, their financial support and coverage are inadequate. These are some of the major reasons that many elderly individuals work later in life to

survive. At the same time, some studies show the positive impact of working and staying active in later life on the health of the elderly.

Keywords: Elderly, Workforce, Gender, Rural-Urban

Introduction

The world is undergoing a transformative shift, notably marked by a rising elderly[1] population of 1.1 billion in 2022, comprising 13.9% of the total population. Projections indicate a continued increase in this demographic shift to 22% of the total population and double in number to 2.2 billion by 2050 (UNFPA, 2023). India is no exception to the global trend of demographic aging, as it has experienced a notable increase in the proportion of its elderly population, rising from 8.6% in 2011 to 10% in 2022 (UNFPA, 2023). Simultaneously, the country is undergoing significant structural transformations within its traditional family system, in which the elderly, who once coexisted with younger generations in multigenerational households, are increasingly becoming a part of nuclear family structures.

This escalating proportion of the elderly population and evolving family structure increase the challenges that age brings. This shift brings various social, economic, and healthcare challenges and raises concerns about who will take care of the elderly now, as they are losing familial support. It increases economic vulnerability among the elderly and compels them to work in later life to fulfil their basic needs. However, the experience of extended work

[1] UNFPA (2023) and LASI (2020) define elderly as person aged 60 years and above.

life is not uniform among older adults; it varies across social and economic contexts, including place of residence and educational attainment. Thus, there is a need to re-examine the concept of working life expectancy, especially in developing countries like India, where the aging population lacks sufficient financial and social security.

This paper aims to understand the patterns of workforce participation among older adults in India, with particular focus on gender, rural–urban, and educational differentials. It explores how socio-economic factors shape the possibility and nature of extended work life among older adults. By examining macro data and secondary literature, it seeks to question what the patterns of workforce participation among older adults in India are, and how they vary across different socio-economic groups.

Changing Realities of India's Ageing Population

According to UNFPA (2023), the elderly will constitute 22% of the global population, rising to 2.2 billion by 2050.

Table 1: The percentage share of the elderly population in the total population in India

Population Census (Years)	Person	Female	Male	Rural	Urban
1961	5.6	5.8	5.5	5.8	4.7

1971	6.0	6.0	5.9	6.2	5.0
1981	6.4	6.6	6.4	6.8	5.4
1991	6.7	6.8	6.7	7.1	5.7
2001	7.4	7.8	7.1	7.7	6.7
2011	8.6	9.0	8.2	8.8	8.1
2022*	10.0	-	-	-	-

Source: Census of India 2011, retrieved from National Statistical Office (NSO) 2021 and *UNFPA, 2023.

The elderly population in India is 149 million and will constitute 10.5 percent of the population in 2022 (UNFPA, 2023). Compared to the census 2011, there were 103 million elderly persons, comprising 8.6 percent of the country's population (LASI, 2020; NSO, 2021). This is projected to double by 2050, reaching 20.8 percent and 347 million individuals (UNFPA, 2023). A study (Agarwal et al., 2016) revealed the primary factors behind the increasing elderly population: increasing age at marriage, declining fertility rates, declining infant mortality, and increased longevity due to advancements in medical, public health, nutrition, and sanitation facilities. Studies (Lalan, 2014; Lamb, 2000) explore how gender roles and social norms shape the aging experience and reveal that older women often face greater marginalisation and dependency. The dependency ratio of elderly females is 14.9 as compared to their male counterparts (13.6) in 2011 (NSO, 2021). A study (Sen,

1995) emphasised the need to re-evaluate theoretical perspectives on gender and aging to address emerging challenges, such as socio-economic disparities among older women.

Average life expectancy has increased drastically, but not equally for males and females. In most of the country, women outnumber men in old age (Agarwal et al., 2016; LASI, 2020; Sen, 1995; UNFPA, 2023). Life expectancy in India has nearly doubled from 36 years in 1950 to 69 years in 2017-18 and is expected to reach 75 years by 2050, with fertility rates declining from 5.9 to 1.8 over the same period (LASI, 2020). In India (during 2015-2019), a 60-year-old person is expected to live for another 18.3 years, which is higher for females (19 years) than for males (17.5 years). This shows that elderly women survive longer than elderly men and also outnumber them in old age. This phenomenon is known as the feminisation of aging; according to UNFPA (2023), it reflects the extra year survived by elderly females as compared to elderly males at the age of 60 years. This increasing elderly population has raised significant questions about the elderly’s social and economic participation, especially in the workforce and the factors responsible for shaping extended work life in later years.

Patterns of Workforce Participation of the Elderly in India

There is a negative relationship between age and labour force participation; as age increases, labour force participation decreases. Even after the negative relationship, there is still a prominent number of elderly who work beyond 60 years of age in developing countries like India. This continued engagement of the elderly in the labour force highlights the need to examine the patterns and factors associated with extended work life in later years. According

to LASI (2020), the proportion of the working[2] population begins to decline after the age of 50 years. About 60% of the elderly in their 50s used to work, but this declined to 20% or less after the age of 70 years.

Table 2: Percent distribution of the elderly population by work status in India

Background characteristics	Currently working	Worked in the past but currently not working	Never worked
Rural	39.9	37.8	22.2
Urban	25.6	38.0	36.4
Male	50.9	45.3	3.8
Female	22.0	31.1	46.8
Total	35.7	37.9	26.4

Source: LASI, 2020

More than one-third (35.7%) of the elderly population is working, while 37.9% of the elderly used to work but do not work currently, and the remaining 26.4% have never worked (LASI,

[2] LASI (2020), define work as "work include all types of Labour, such as agricultural work, wage/salaried work, self-employed activities, and unpaid family business work. However, it excludes one's own housework, irrespective of whether one receives wages"

2020). This data shows that there is a negative relationship between age and labour force participation, as the elderly used to work but do not work currently, which consists of a prominent share, more than one-third of the elderly population. To elaborate further, only 1.5% of the elderly are currently working and officially retired, 34.2% are currently working and not officially retired, only 5.7% are currently not working and officially retired, 32.2% are neither currently working nor officially retired from any organised sector, and 26.4% had never worked (LASI, 2020).

The informal sector in India consists of 86% of workers (Naik, 2009, as cited in Reddy, 2016). According to the 61st NSSO (2004-2005) report, only 9.1% of rural men and 3.7% of rural women were regular workers among all rural employed persons, and 40.6% of urban men and 35.6% of urban women were employed as regular workers (Government of India, 2005, as cited in Reddy, 2016; Rajan, 2010). The rest were casual and self-employed workers who lacked any form of post-retirement financial support, which compelled them to extend their working lives beyond the retirement age (60 years) (Reddy, 2016; Rajan, 2010). Variation in work status among the elderly across gender and rural–urban locations highlights that different social and demographic contexts influence extended work life. The nature of work undertaken by the elderly further provides insight into their economic participation.

Table 3: Percentage distribution of currently working elderly by type of work in India

Background characteristics	Agriculture and allied activities	Self employed	Wage and salary workers
Rural	77.1	10.8	12.2
Urban	18.8	38.7	42.5
Male	62.3	19.6	18.1
Female	70.0	10.5	19.5
Total	64.8	16.6	18.6

Source: LASI, 2020

The majority of currently working elderly are engaged in the informal and unorganised sectors. According to the LASI (2020), the majority of working elderly are engaged in agriculture and allied activities (64.8%), less than one-fifth (18.6%) are engaged in salaried work, and only 16.6% are self-employed (Table 3). Around 62% of elderly men and 70% of elderly women are currently working in agriculture and allied activities (farming, fishing, or forestry). 19.6% of elderly men and 10.5% of elderly women are self-employed. And 18.1% of elderly men and 19.5% of elderly women are employed as wage and salary workers (Table 3) (LASI, 2020). This shows that elderly women are more likely to be engaged in agriculture and salaried work, while elderly men are more likely to be self-employed.

The LASI (2020) report shows that almost 50.9% of elderly men are currently working, where as the same for elderly women is only 22% (Table 2). The proportion of the elderly who had never worked in the past was only 3.8% for elderly men, whereas it was 46.8% for elderly women. Additionally, 45.3% of elderly men and only 31.1% of elderly women had worked in the past but are currently not working. Gender differences are noticeable in the current working elderly population, and the data show that a proportion of elderly men were more engaged in the labour force than elderly women. Due to gender differences in earlier life, elderly women were less educated, skilled, and trained in economic activities, which makes them less capable of getting better jobs. The nature of work among the elderly reflects differences in available employment opportunities and living contexts. These variations also point towards the importance of examining rural-urban disparities and other factors shaping elderly workforce participation.

Spatial Differences in Extended Work Life: Rural-Urban Disparity

Labour force participation also varied by residence; the rural elderly labour force participation rate remained unchanged, whereas it decreased for the urban elderly between 1983 and 2011-2012 (Reddy, 2016). According to LASI (2020), 39.9% of rural elderly and 25.6% of urban elderly were currently working (Table 2). This trend can be seen in elderly women's workforce participation in both rural and urban areas. Elderly women in rural areas were more engaged in the workforce than elderly women in urban areas. In rural areas, one-fifth of elderly women were engaged in farm-based economic activities, while only one-

tenth of urban elderly women were engaged in economic activities (Selvaraj et al., 2014, as cited in Chattopadhyay et al., 2022).

It shows that the rural elderly have a higher labour force participation rate than the urban elderly. This difference may be associated with the nature of employment opportunities available in rural areas, where the majority of elderly workers were engaged in farm and farm-related activities, which not only offer low income but also don't offer any retirement benefit or financial support, and declining traditional joint family support compels the elderly to extend their work life expectancy to meet their basic needs.

Education, Health and Later Life Employment Opportunities

Research on aging shows conflicting evidence on the relationship between aging, work status, and health, with some studies showing that developed countries indicate a positive relation between work and later life, leading to better mental and physical health in the elderly (Hao, 2008; Schwingel et al., 2009; Silver et al., 2020, as cited in Chattopadhyay et al., 2022). At the same time, other studies show that increasing longevity may lead to decreased health status and increased economic challenges (Angel et al., 2003; Jeon et al., 2007; Bang et al., 2017; Kwak & Kim, 2019 as cited in Chattopadhyay et al., 2022).

The study shows a positive relationship between education and employment among the elderly. One possible explanation for this is that more highly educated individuals enter the workforce relatively later than individuals with lower levels of education. Consequently, they are required to work for a longer duration, until a later age, to secure their livelihood

and accumulate sufficient savings (Chattopadhyay et al., 2022). This indicates that the more educated elderly tend to delay retirement relative to their less-educated counterparts to ensure financial stability. However, study shows that this trend holds true for developed countries like Denmark, Germany, and Sweden (Larsen & Pedersen, 2017 as cited in Chattopadhyay et al., 2022). This trend does not hold true for developing countries like India, where the elderly with higher education withdraw from the workforce earlier than their less educated counterparts. LASI (2020) report supporting this claim. This might be due to the lack of suitable job opportunities in later life (Das & Desai, 2003, as cited in Chattopadhyay et al., 2022).

Individuals' health deteriorates with age, and thus it plays a crucial role in the elderly's lives. In India, the elderly suffer from several non-communicable diseases (Chattopadhyay et al., 2022). Almost three-fourths of the elderly who were diagnosed with chronic conditions have received treatment for heart disease (74%), hypertension (77%), and diabetes (83%) (LASI 2020). Health status has a dual effect on the elderly's life, as increasing health expenditures compel the elderly to continue working beyond retirement age (Brinda et al., 2012; Mohanty et al., 2014, as cited in Chattopadhyay et al., 2022), but at the same time, with deteriorating health status, the elderly may find it difficult to work in later life.

Discussion

The elderly living in developing countries face different problems and challenges than those in developed countries. Developed countries have well-established institutional social security, which helps the majority of the labour force access some form of formal social

security benefit, which is the major source of their retirement income (Crowford and Lilien, 1981, as cited in Reddy, 2016). A study shows that the US social security system has contributed to the continuous decline in the labour force participation among elderly men post-war (Boskin, 1977, as cited in Reddy, 2016). Unlike developed countries, the elderly in developing countries like India experience significant challenges. Income insecurity is one of the major causes of vulnerability in old age, especially in accessing retirement benefits, as only a small proportion of the workforce is employed in the formal sector, which enjoys the benefit of having regular wages, retirement, and some sort of financial support post-retirement (Reddy, 2016; Maurya, 2021).

The employment profile of the elderly in India reflects the gender and rural-urban disparity in labour force participation. Rural areas experienced higher rates of elderly workers (39.9%) working beyond their retirement age (60 years) than their urban counterparts (25.6%). This is primarily because the elderly in rural areas work in the informal sector, which lacks a retirement age or pension benefits, and the decline of traditional family support for the elderly compels them to work in later life to fulfil their basic requirements. In the context of gender, elderly men were almost twice as likely (50.9%) to be engaged in the labour force as compared to their female counterparts (22%). This is primarily because, in India, genders have different roles in which women are confined to household and unpaid activities and men are confined to earning a livelihood outside the household. As a result, women were less educated, skilled, and trained in economic activities, making them less capable of obtaining better jobs.

The study also highlighted that labour force participation in India is primarily in the informal sector. Elderly employment profiles reflect the predominance of agriculture and unorganised workforce participation, which is two-thirds of the total working elderly. This leads to low social security coverage. Only 6% of the elderly were covered by the pension and provident fund schemes. This increases the economic vulnerability among the elderly. Although data show a decline in the labour force participation rate with age, 36% of the elderly and almost half of the elderly men work beyond the age of 60 years. Thus, factors such as working in the informal sector, rising health expenditures, limited government support for social security, inadequate personal savings, and declining traditional familial support pressure the Indian elderly to work beyond retirement age or as long as possible. Whereas elderly women feel more pressure and economic vulnerability in later life because of many factors, such as the gender stereotype that women have low labour force participation in their primary years, which leads to insufficient resources in old age. Widowhood increased economic vulnerability, as women were more dependent on their husbands for day-to-day maintenance, and losing a husbands placed the burden of financial responsibility on them. All these factors pressure women to take up work in later life.

The highest tendency to work is among the middle-class elderly, and especially men. At the same time, the educated and rich elderly have a low tendency to work in later life, maybe due to a lack of better job opportunities for well-educated individuals or the sufficient savings and pensions they receive. Whereas the tendency to work is lower among the elderly who live with their adult children. This may be because the elderly themselves need care from family or kin, if they are healthy, they provide care to their grandchildren

(Chattopadhyay, 2022) and provide non-financial help in the household. The elderly, especially elderly women, provide unpaid work or non-financial contributions to the family in exchange for support in old age (Bloom et al., 2010; Hu & Das, 2018; Selvaraj et al., 2014, as cited in Maurya, 2021). According to LASI 2020, about 20% of the elderly living with their children take care of their grandchildren, as compared to 10% of the elderly who do not live with their adult children (LASI 2020). Thus, it shows that the elderly living with family contribute non-financially to the household by taking care of grandchildren and helping with household chores, and do not work outside to earn a living or contribute to the household.

Conclusion

This study examines the factors influencing labour force participation among the aging population in India, focusing on key dimensions such as gender, education, health, disparities between the formal and informal sectors, and rural-urban differences among the elderly. By conducting a critical review of existing literature and analysing secondary data sources, including LASI 2020 and NSO 2021, the paper underscores the gendered nature of elderly labour force participation. It highlights rural-urban disparities, along with other influencing factors such as educational attainment and health status. Given the decline in familial support for the elderly, there is a need for robust support measures to enhance their well-being. These include enhancing the accessibility and affordability of healthcare services and providing training in new technologies to upskill the elderly. While the government has introduced policies targeting elderly health insurance and social security

benefits, their reach and adequacy remain limited. The effective implementation of these policies often fails to cover a significant portion of the elderly population. Government interventions must give special consideration to vulnerable groups, such as widowed or separated women and elderly individuals living alone. Furthermore, policymakers must prioritise initiatives that raise awareness among older adults regarding their rights and available government benefits, thereby improving their overall well-being and economic participation.

Reference-

Agarwal, A., Lubet, A., Mitgang, E., Mohanty, S., & Bloom, D. E. (2016). Population aging in India: Facts, issues, and options. IZA Discussion Paper No. 10162.

Chattopadhyay, A., Khan, J., Bloom, D. E., Sinha, D., Nayak, I., Gupta, S., Lee, J., Perianayagam, A. (2022). Insights into labor force participation among older adults: Evidence from the Longitudinal Ageing Study in India. Journal of Population Ageing.

International Institute for Population Sciences & United Nations Population Fund (2023). India Ageing Report 2023, Caring for our elders: Institutional responses. United Nations Population Fund, New Delhi.

Lalan, Y. (2014). A sociological study of old persons residing in an old age home of Delhi, India. International Research Journal of Social Sciences, 3(4).

Lamb, S. (2000). White saris and sweet mangoes: Aging, gender and body in North India.

Longitudinal Ageing Study in India (LASI). (2020). Wave 1, India Report, (2017-2018). International Institute for Population Sciences, Mumbai.

Maurya, P. (2021). Employment status and life satisfaction among Indian elderly: From a gender perspective. International Population Conference 2021. International Union for the Scientific Study of Population.

National Statistical Office (NSO). (2021). Elderly in India 2021. Ministry of Statistics & Programme Implementation, Government of India, New Delhi. (CHECK THE TABLES AND THE CATEGORIES USED FOR ANALYSIS)

Rajan, S.I. (2010). Demographic ageing and employment in India. ILO Asia-Pacific Working Paper Series.

Reddy, A. B. (2016). Labour force participation of elderly in India: Patterns and determinants. International Journal of Social Economics.

Sen, K. (1995). Gender, culture and later life: A dilemma for contemporary feminism. Gender and Development, 3 (3), 36-42